योगसार प्राभृत

अनुक्रमणिका

मंगलाचरण
001) जीव अधिकार - ग्रंथकार का मंगलाचरण एवं उद्देश्य
जीव अधिकार
002-003-004) जीव एवं अजीव तत्त्वों को जानने का फल
005) निजस्वभाव को जानने का फल
006) आत्मा का लक्षण उपयोग और उसके भेद
007) दर्शन के भेद एवं उसका लक्षण
008-009) ज्ञान के भेद एवं उसका लक्षण
010) केवलज्ञान व केवलदर्शन के उत्पत्ति में कारण
011) दर्शन और ज्ञान की उत्पत्ति का क्रम
012) मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान के कारण
013) मिथ्यात्व का स्वरूप और कार्य
014) दर्शनमोहनीय कर्म के तीन भेद
015) मिथ्यात्व का स्वरूप
016) सम्यक्त्व का स्वरूप
017-018) सम्यक्त्व के भेद और उनमें कारण-कार्यपना
019) आत्मा का ज्ञानप्रमाणपना और ज्ञान का सर्वगतत्व
020) आत्मा से ज्ञान को अधिक मानने पर आपत्ति
021) ज्ञेयक्षिप्त ज्ञान की व्यापकता
022) ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता
023) ज्ञान, दूरवर्ती पदार्थ को भी स्वभाव से जानता है
024) ज्ञान, स्वभाव से ही स्व-पर प्रकाशक है
025) क्षायोपशमिक एवं क्षायिक ज्ञान का स्वरूप
026) केवलज्ञान की सत्-असत् विषय में प्रवृत्ति
027) सत्-असत् पदार्थों का खुलासा
028) भूत-भावी पदार्थों को जानने का स्वरूप
029-030) सब पदार्थों में केवलज्ञान के युगपत प्रवृत्त न होने पर दोषापत्ति
031) भव्यात्मा ही परमात्मा के स्वरूप को स्वीकारता है
032) निज शुद्धात्मा का स्वरूप एवं उसके श्रद्धान का फल
033) आत्मसाधक का एवं आत्मा का स्वरूप
034) श्रुतज्ञान से भी केवलज्ञान के समान आत्मबोध की प्राप्ति
035) सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति का काल
036) कषाय से स्वभावच्युत आत्मा के व्रत नहीं
037) आत्मरमणता से पापों का पलायन
038) आत्मा के ध्यान से कर्मों से छुटकारा
039) आत्मध्यान से विमुख योगी का स्वरूप
040) निश्चयचारित्र का स्वरूप
041) व्यवहाररत्नत्रय का स्वरूप
042) रत्नत्रय परिणत आत्मा ही मोक्षमार्ग है
043) आत्मा, स्वयं दर्शन-ज्ञान-चारित्र है
044) निज शुद्धात्मा की उपासना ही निर्वाणसुख का उपाय
045) आत्मस्वरूप की अनुभूति का उपाय
046) केवलज्ञान, आत्मा का उत्तम स्वरूप
047) अणुमात्र राग भी पाप का बंधक
048) परमेष्ठी की उपासना से कर्मक्षय नहीं होता

049) आस्रव रोकने/संवर का एकमेव उपाय
050) परद्रव्योपासक जीव का स्वरूप
051) ध्याता, ध्येय के अनुसार हो जाता है
052) ध्येयरूप विविक्तात्मा/शुद्धात्मा का स्वरूप
053) आत्मा में स्वभाव से वर्णादि का अभाव
054) शरीरसंयोग से वर्णादिक शुद्धात्मा के कहे जाते हैं
055-056) औदयिक भावों को जीव का स्वभाव मानने से आपत्ति
057) गुणस्थानादि जीव नहीं हैं
058) क्षायोपशमिक ज्ञानादि भाव शुद्धजीव का स्वरूप नहीं
059) निज शुद्धात्मा के ध्यान से मुक्ति

अजीव अधिकार

060) अजीव द्रव्यों के नाम -
061) अजीव द्रव्यों की स्वतंत्रता -
062) अजीव-द्रव्यों का विभाजन एवं मूर्तित्व का लक्षण -
063) छहों की द्रव्यसंज्ञा -
064) द्रव्य का व्युत्पत्तिपरक लक्षण और सत्तामय स्वरूप -
065) सर्व पदार्थगत सत्ता का स्वरूप -
066) द्रव्य का उत्पाद-व्यय, पर्याय अपेक्षा से -
067) द्रव्य के साथ गुण-पर्यायों का अविनाभावी संबंध -
068) धर्मादि द्रव्यों की प्रदेश व्यवस्था -
069) परमाणु का लक्षण -
070) आकाश एवं पुद्गल द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या -
071) कालद्रव्य की संख्या एवं उसकी व्यापकता -
072) धर्म, अधर्म और पुद्गलद्रव्य की व्यापकता -
073) संसारी जीवों की लोकाकाश में व्यापकता -
074) धर्मादि द्रव्यों का उपकार -
075) जीव का उपकार -
076) पुद्गल का उपकार -
077) कोई किसी का कभी कोई कार्य करता ही नहीं -
078) पुद्गल के चार भेद और उनका स्वरूप -
079) पुद्गलों से लोक भरा है -
080) द्रव्य के दो भेद और उनका लक्षण -
081) पुद्गल स्वयं ही कर्मभावरूप परिणमते हैं -
082) कर्म के आस्रव एवं बन्ध में निमित्त का निर्देश -
083) प्रकृतिबन्ध के भेद -
084) जीव अपने विकारी भावों का कर्ता और पुद्गल कर्म का अकर्ता -
085) कर्मों की विभिन्नता पुद्गलकृत हैं -
086) जीव और कर्म की स्वतंत्रता -
087) जीव, स्वभाव से कर्मों को करे तो आपत्ति -
088) कर्म, स्वभाव से जीव को करे तो आपत्ति -
089) दोनों को परस्पर का कर्ता मानने से आपत्ति -
090) कर्म एवं जीव के विभाव में परस्पर निमित्तपना -
091) जीव मोहादि परिणामों का अकर्ता -
092) द्रव्यकर्म और भावकर्म में परस्पर निमित्तनैमित्तिकपना -
093) ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म को जीवकृत कहा जाता है -
094) कर्मजनित देहादिक विभाव अचेतन हैं -
095-096) गुणस्थान पुद्गल-निर्मित है -
097) गुणस्थान संबंधी विभिन्न मान्यता -
098) प्रमत्तादि गुणस्थानों की वंदना से चेतन मुनि वन्दित नहीं -
099) प्रमत्तादि गुणस्थानों की वंदना मात्र पुण्यबंध का कारण -
100) देह की स्तुति से आत्मा की स्तुति नहीं होती -
101-102) लक्षण ही भेदज्ञान का सच्चा साधन -

103) इंद्रिय गोचर सब पुद्गल हैं -
104) रूप का पौद्गलिक स्वरूप -
105) रागादि भाव कर्मजनित हैं -
106) जीव, जीवरूप ही रहता है -
107) आत्मा को द्रव्यकर्म का कर्ता मानने पर दोषापत्ति -
108) कर्म-निमित्तक औदयिकादि सब भाव अचेतन -
109) अजीव तत्त्व जानने की अनिवार्यता -
110) आस्रव का सामान्य कारण -
111) आस्रव के विशेष कारण -
112) मिथ्यात्व वृद्धि का कारण -
113) मिथ्यात्वरूप पाप का फल -
114) मिथ्यात्व-रक्षक परिणाम -
115) मिथ्यात्व-पोषक परिणाम -
116) मिथ्यात्व ही आस्रव का प्रमुख कारण -
117) नय-सापेक्ष आत्मा का कर्तापना -
118) जीव-परिणाम व कर्मोदय में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध -
119) निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मात्र दो पर्यायों में होता है -
120) कर्म को जीव का कर्ता मानने पर आपत्ति -
121) एक के किये हुए कर्म के फल को दूसरे के द्वारा भोगने पर आपत्ति -
122) कर्म में जीव के स्वभाव का आच्छादन करने का उदाहरण -
123) मिथ्यात्वादि कषाय ही आस्रव-बन्ध का कारण -
124) कषाय रहित जीव के साम्परायिक आस्रव मानने पर आपत्ति -
125) प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतंत्र -
126) पर से सुख-दुःख की मान्यता से निरन्तर आस्रव -
127) मिथ्यात्व से देह संबंधी विपरीतता -
128-129) मिथ्यात्व से पुत्रादिक में आत्मीय बुद्धि -
130) सब स्वतंत्र एवं स्वाधीन -
131-132) सकषाय जीव के ही कषाय होते हैं, अकषाय जीव के नहीं -
133) जीव तथा कर्म के कर्तृत्वसंबंधी कथन -
134) जीव तथा कर्म के कर्तासंबंधी ही नयसापेक्ष कथन -
135) पुद्गल की अपेक्षा से जीव के औदयिक भावों की उत्पत्ति तथा स्थिति -
136) मिथ्यात्व का स्वरूप एवं कार्य -
137-138) मिथ्यादृष्टि के कार्य का खुलासा -
139) अचारित्र का स्वरूप -
140) मिथ्याचारित्र का स्वरूप -
141) मिथ्याचारित्र का स्वरूप और स्पष्ट करते हैं -
142) मिथ्याचारित्र का फल -
143) देवेन्द्रों का विषय-सुख भी दुःख ही है -
144) इंद्रिय-जनित सुख, दुःख ही है -
145) सांसारिक सुख को सुख माननेवाला मिथ्याचारित्री है -
146) पुण्य-पाप में भेद माननेवाला चारित्रभ्रष्ट -
147) व्यवहार चारित्र से मुक्ति नहीं -
148) कर्मबंध में बाह्य वस्तु अकिंचित्कर -
149) भेदज्ञानी तथा मिथ्या कल्पनाओं का त्यागी ही मुक्त होता है -

बन्ध अधिकार

150) बन्ध का लक्षण -
151) कर्मबन्ध के चार भेद -
152) चारों बंधों का सामान्य स्वरूप -
153) कर्मबन्ध का स्वामी -
154-155) उदाहरणों से बन्ध का स्पष्टीकरण -
156-157) कर्मबन्ध का कारण कषायों से आकुलित चित्त -
158) कोई किसी का मरणादि नहीं कर सकता -

159) मारणादि परिणामों से कर्मबन्ध -
160) मरणादिक सब कर्म-निर्मित -
161) जिलाने आदि की मान्यता मिथ्यात्वजनित -
162) कर्ताबुद्धि मिथ्या है -
163) करने-कराने का भाव कर्मोदयजन्य -
164) चारित्रादि की मलिनता में हेतु मिथ्यात्व -
165) चारित्रादि गुणों का पर्यायगत स्वभाव -
166) भोगता हुआ सम्यग्दृष्टि अबन्धक -
167) न भोगता हुआ मिथ्यादृष्टि बंधक -
168) ज्ञानी / सम्यग्दृष्टि भोगों से अबन्धक -
169) साधक योगी आहारादि से अबन्धक -
170) श्रावक के परिणामों से मुनिराज को बंध नहीं होता -
171) विषयों के ज्ञाता-दृष्टा योगी अबन्धक -
172) ज्ञानी एवं अज्ञानी में भिन्नता -
173) ज्ञान और वेदन की परिभाषा -
174) ज्ञान और अज्ञान का एक-दूसरे में अभाव -
175) ज्ञानी अबंधक एवं अज्ञानी बंधक -
176) कर्मफल को भोगनेवाले ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर -
177) कर्म एवं गति के कारणों का निर्देश -
178) संसारी जीव की प्रवृत्ति -
179) रागादि भावों से दुःख -
180) मुक्ति का कारण -
181) रागादि सहित जीव के शुभाशुभ परिणाम -
182) पुण्य-पाप के कारण का परिचय -
183) पुण्य-पाप का फल भोगनेवाला जीव मूर्तिक -
184) कर्म-रहित जीव अमूर्तिक -
185) जीव के अमूर्तिकपने का उदाहरण -
186) पुण्यबंध के कारण -
187) पापबन्ध के कारण -
188) अज्ञानी पुण्य-पाप में भेद मानता है -
189) बुद्धिमान पुण्य-पाप को एक मानते हैं -
190) आत्मस्वरूप में अवस्थित योगी को मुक्ति की प्राप्ति -

संवर अधिकार

191) संवर का लक्षण और उसके भेद -
192) संवर के भेदों का लक्षण -
193) भाव एवं द्रव्यकर्म के अभाव से पूर्ण शुद्धि -
194) मोह से आत्मबोध का नाश -
195) आत्मबोध के अभाव से मिथ्यात्ववर्धन -
196-197) कषाय-क्षपण में समर्थ जीव का स्वरूप -
198-199) मूर्त पुद्गलों में राग-द्वेष करना मूढ़बुद्धि -
200) राग-द्वेष न करने की सहेतुक प्रेरणा -
201) राग-द्वेष किस पर करें?
202-203) शरीर का उपकार और अपकार करनेवालों पर राग-द्वेष कैसे?
204) अमूर्त आत्माओं पर अपकार और उपकार कैसे?
205) अपकार और उपकार करने की भावना व्यर्थ -
206-207) कोई किसी के गुणों को करने-हरने में समर्थ नहीं -
208-209) सम्यग्दर्शनादि पर्यायों का कोई भी कर्ता-हर्ता नहीं -
210) व्यवहारनय से शरीरादि आत्मा के कहे जाते हैं, निश्चयनय से नहीं -
211) निश्चयनय से शरीरादि को आत्मा का मानने से आपत्ति -
212) दोनों नयों से स्व-पर को जानने का फल -
213) पर्याय-अपेक्षा से कर्मफल भोगने का स्वरूप -
214) द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा फल भोगने की व्यवस्था -

215) पर्याय एवं द्रव्य अपेक्षा का उदाहरण -
216) द्रव्य-पर्याय अपेक्षा से जीव का स्वरूप -
217) जीव औदयिक भावों के द्वारा कर्म का कर्ता एवं भोक्ता -
218) जीव का इंद्रिय-विषय कुछ नहीं करते -
219) संकल्प बिना द्रव्य, गुण, पर्याय इष्टानिष्ट नहीं -
220) वचनों से कोई निंद्य अथवा स्तुत्य नहीं होता -
221) मोह से बाह्य पदार्थ सुख-दुःखदाता -
222) मोह से बाह्य पदार्थ सुख-दुःखदाता -
223) परद्रव्य के गुण-दोषों से जीव को हर्ष-विषाद नहीं -
224) इष्टानिष्ट चिन्तन की निरर्थकता -
225) विकल्पों की निरर्थकता -
226) कोई भी द्रव्य इष्ट-अनिष्ट नहीं -
227) सम्यक् श्रद्धानादि में जीव स्वयं प्रवृत्त होता है -
228) मिथ्याश्रद्धादि में जीव, स्वयं प्रवृत्त होता है -
229) जीव की मलिनता में मोह ही निमित्त, स्वभाव नहीं -
230) मोह का नाश होने पर स्वरूप की उपलब्धि -
231) मोह का त्यागी साधक ही कर्मों का संवर करता है -
232) राग-द्वेष सहित तप से शुद्धि नहीं -
233) कर्म का कर्ता-भोक्ता जीव, कर्मों को बाँधता है -
234) ज्ञाता-दृष्टा रहना मोक्षमार्ग है -
235) ज्ञानी मात्र ज्ञाता-दृष्टा -
236) सामायिक आदि में प्रवर्तमान साधु को संवर होता है -
237) सामायिक का स्वरूप -
238) स्तव का स्वरूप -
239) वन्दना का स्वरूप -
240) प्रतिक्रमण का स्वरूप -
241) प्रत्याख्यान का स्वरूप -
242) कायोत्सर्ग का स्वरूप -
243) संवरक योगी का स्वरूप -
244) आत्मज्ञानी ही संवर करते हैं, अन्य नहीं -
245) भोक्ता-अभोक्ता का निर्णय -
246) कौन किससे पूजनीय -
247) भावपूर्वक त्याग से संवर -
248) भाव से निवृत्त होने की प्रेरणा -
249-250) शरीरात्मक लिंग से मुक्ति नहीं -
251) मुमुक्षु के लिए हेय तथा उपादेय तत्त्व -
252) शीघ्र संवर करनेवालों का परिचय -

निर्जरा अधिकार

253) निर्जरा का लक्षण और भेद -
254) दोनों निर्जरा का स्वरूप -
255) अपाकजा निर्जरा का उदाहरण -
256) ध्यान से ही सर्वोत्तम निर्जरा -
257) सर्वोत्तम निर्जरा का स्वामी -
258) संवर के बिना निर्जरा नहीं -
259) एकाग्र चित्त साधु ही कर्मों के नाशक -
260) संपूर्ण कर्म-मल को धो डालनेवाले का स्वरूप
261) विशुद्धभावधारी कर्मक्षय का अधिकारी -
262) शुद्ध आत्मतत्त्व को न जाननेवाले के सर्व तप व्यर्थ -
263) आत्मतत्त्व में लवलीन संयमी को कर्म की निर्जरा -
264) कर्म-रज को धो डालनेवाले मुनिराज का स्वरूप -
265) लोकाचार अपनाने से संयम हीन होता है -
266) अरहंत-वचनों के श्रद्धान का महत्त्व -

267) जिनागम के ज्ञान का महत्त्व -
268) भिन्न-भिन्न चक्षुधारक जीव -
269) आगम-प्रदर्शित अनुष्ठान का कार्य -
270) अज्ञानी तथा ज्ञानी के विषय-सेवन का फल -
271) निर्विकल्प अर्थात् वीतरागता से निर्जरा -
272) अपरिग्रही योगीराज की निर्जरा -
273) शुद्ध आत्मा को छोड़नेवालों की स्थिति -
274) जो अन्यत्र देव को ढूँढता है, उसकी स्थिति -
275) मोह से जीव, कर्मों से बँधता है -
276) अप्रमादी पापों से छूटते हैं -
277) स्वतीर्थ-परतीर्थ का स्वरूप -
278) परीषहजय का लाभ -
279) प्राप्त सुख-दुःख में समताभाव से निर्जरा -
280) आत्मज्ञान से ही आत्मा शुद्ध होता है -
281) सर्व परद्रव्यों से आत्मा का संबंध नहीं -
282) निजात्मस्वरूप की भावना भानी चाहिए -
283) परद्रव्य को जानने का लाभ -
284) जगत के स्वभाव की भावना का प्रयोजन -
285) एक आश्चर्य की बात -
286) जिसकी उपासना उसकी प्राप्ति -
287) ज्ञान को जानने से ज्ञानी जीव का ज्ञान होता है -
288) ज्ञानवान द्रव्य ही वस्तु को जानता है -
289) परोक्ष ज्ञान से आत्मा की प्रतीति होती है -
290) ज्ञान स्व-पर प्रकाशक होता है -
291) जो वेद्य को जानता है वह वेदक को जानता ही है -
292) शुद्ध आत्मा के ध्यान से कर्मों की निर्जरा -
293) इसी का दृष्टान्तपूर्वक समर्थन करते हैं -
294) आत्मप्राप्त ज्ञानी सुखी -
295) परद्रव्य के त्याग का स्वरूप -
296) विशोधित ज्ञान और अज्ञान का स्वरूप -
297) मोहरूप परिणाम में कर्म ही निमित्त, जीव-स्वभाव नहीं -
298-299) आत्मशुद्धि के लिये ज्ञानाराधना -
300) ज्ञानी अज्ञान को नहीं अपनाता -
301) विद्वानों के लिये ग्रंथकार का दिशानिर्देश -
302) योगी का स्वरूप और उसके जीवन का फल -

मोक्ष अधिकार

303) मोक्ष का स्वरूप -
304) निर्दोष आत्मा में केवलज्ञान का उदय -
305) मलिन आत्मा में केवलज्ञान नहीं -
306) शुद्धात्मध्यान से मोह का नाश -
307-308) ध्यान से अत्यन्त आनंद -
309-310) भव्य जीवों के भाग्यानुसार केवली का उपदेश -
311) आत्मा का स्वरूप ज्ञान है -
312) निमित्त के सद्भाव से नैमित्तिक कार्य -
313) निमित्त के अभाव से नैमित्तिक कार्य -
314) केवलज्ञान में क्षेत्रगत दूरी बाधक नहीं है -
315) ज्ञेय स्वभाव के कारण आत्मा सर्वज्ञ -
316) ज्ञान के कारण आत्मा सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी -
317) सिद्ध होने का साक्षात् साधन -
318-319) वीतरागी जीव को मुक्ति की प्राप्ति होती है -
320) सिद्ध परमात्मा पुनः संसार में नहीं आते -
321) सिद्धात्मा, शरीर ग्रहण नहीं करते -

322) ज्ञान, जड़ का धर्म नहीं -
323) कर्मों के नाश के समान ज्ञान का नाश नहीं -
324) गुणों के अभाव से गुणी का अभाव -
325) कर्मबंध को मात्र जानने से मुक्ति नहीं -
326) यथार्थ उपाय करने से मुक्ति -
327) एक ही जीव, अपेक्षा से दो प्रकार का -
328) जीव के भेदों का लक्षण -
329) शुद्ध जीव को अपुनर्भव कहने का कारण -
330-331) मुक्त जीव का स्वरूप -
332) ध्यान का फल -
333) ध्यान के लिए प्रेरणा -
334) घाति कर्मों का नाश -
335) वाद-विवाद का फल -
336) सिद्ध होने का साक्षात् साधन -
337) शुद्धात्म-ध्यान से कर्मों का नाश -
338) शुद्धात्मा का ध्यान अलौकिक फलदाता -
339) शुद्धात्म-ध्यान से कामदेव का सहज नाश -
340) वाद-विवाद अज्ञान अंधकारमय -
341) समीचीन साधनों में आदर आवश्यक -
342) आत्मचिंतन ही साधन -
343) आत्मध्यान की बाह्य सामग्री -
344) आत्मध्यान की अंतरंग सामग्री -
345) विद्वत्ता का सर्वोत्तम फल -
346) विद्वानों का संसार -
347) सद्ध्यानरूपी खेती करने की प्रेरणा -
348) मोहान्धकार को धिक्कार -
349) मोही जीवों का स्वरूप -
350) मोही जीव को विरक्ति का अभाव -
351) मिथ्यात्वजन्य परिणाम का दृष्टांत -
352) तत्त्व-श्रवण से ध्यान -
353) तत्त्व-श्रवण की प्रेरणा -
354) कुतर्क का स्वरूप -
355) दृढ़चित्त होना आवश्यक -
356) मुक्त जीव का स्वरूप -

चारित्र अधिकार

357) जिनलिंग धारण करना चाहिए -
358-359) जिनलिंग का स्वरूप -
360-361) दीक्षागुरु एवं दीक्षार्थी का स्वरूप -
362-363) श्रमण के २८ मूलगुण -
364) छेदोपस्थापक मुनिराज का स्वरूप -
365) श्रमणों के दो भेद -
366-367) चारित्र में छेद होने पर उपाय -
368) विहार करने की पात्रता -
369) पूर्ण श्रमणता का स्वामी -
370) निर्ममत्व मुनिराज का स्वरूप -
371) प्रमाद ही हिंसा में कारण -
372) प्रमाद-अप्रमाद का उदाहरण -
373) ज्ञान होने पर भी चारित्र मिथ्या -
374) भवाभिनन्दी का स्वरूप -
375) भवाभिनन्दी का ही पुनः स्पष्ट स्वरूप -
376) लोकपंक्ति का स्वरूप -
377) लोकपंक्ति अर्थात् लोकानुरंजन भी कल्याणकारी -

378) आसन्नभव्य जीव को ही मुक्ति की प्राप्ति -
379) भवाभिनन्दी, मुक्ति का द्वेषी -
380) सम्यक्त्व का माहात्म्य -
381) मुक्तिमार्ग के नाशक जीव -
382) आराधना तथा विराधना का फल -
383) दृष्टान्तपूर्वक आत्मविराधना के फल का कथन -
384) प्रमाद ही बंध का मूल -
385-386) प्रमाद रहित साधक का उदाहरण सहित कथन -
387) प्रमादी साधक का स्वरूप -
388) मात्र बाह्यशुद्धि अविश्वसनीय -
389) प्रमाद और अप्रमादभाव का फल -
390) परिग्रह से बंध अनिवार्य -
391) अति अल्प परिग्रह भी बाधक -
392) चेलखण्ड धारक साधु की स्थिति -
393) वस्त्र-पात्रग्राही साधु की स्थिति -
394) परिग्रह से मन की अस्थिरता अनिवार्य -
395) परिग्रहासक्त को आत्माराधना असंभव -
396) ग्राह्य उपधि / परिग्रह का स्वरूप -
397) अग्राह्य परिग्रह का स्वरूप -
398) मोक्षाभिलाषी साधु का स्वरूप -
399) जिनधर्म में स्त्रियों के लिंग संबंधी प्रश्न -
400) स्त्रीरूप पर्याय से मुक्ति न होने का प्रथम कारण -
401) स्त्रियों की प्रमाद-बहुलता-दूसरा कारण -
402) स्त्रियों के मोहादि की बहुलता तीसरा कारण -
403) दोष की अनिवार्यता चौथा कारण -
404) निर्वाण को रोकनेवाला पाँचवाँ कारण -
405) शरीर में जीवों की उत्पत्ति छठा कारण -
406) स्त्री-पर्याय में दिगंबरता का अभाव -
407) जिनलिंग-ग्रहण के योग्य पुरुष -
408) जिनलिंग-ग्रहण में बाधक व्यंग -
409) व्यंग का वास्तविक स्वरूप -
410) व्यंग हमेशा व्यंग ही रहता है -
411) श्रमण कौन होता है
412-413) अप्रमत्त अनाहारी श्रमण का स्वरूप -
414) देहमात्र परिग्रहधारी साधु का स्वरूप -
415) मुनिराज के आहार का स्वरूप -
416) मांस के साथ निगोदी जीवों का संबंध -
417) मांस के कारण अनिवार्य हिंसा -
418) मधु-भक्षण में हिंसा का महादोष -
419) अन्य भी अनेक अभक्ष्य पदार्थ -
420) मुनिराज के हाथ में प्राप्त अन्न दूसरे को देय नहीं -
421) चारित्र-आचरण में यथायोग्य दिशाबोध -
422) स्वल्पलेपी मुनिराज का स्वरूप -
423) तपस्वी मुनिराज को अकरणीय कार्य -
424) आगम के अध्ययन में प्रवृत्ति की प्रेरणा -
425) जिनेन्द्रकथित आगम ही प्रमाण है -
426) शास्त्र संबंधी आदर का सहेतुक कथन -
427) प्रवृत्ति के अभाव से पुरुषार्थ की विभिन्नता -
428) एक शास्त्रज्ञान/तत्त्वज्ञान ही जीवों को मार्गदर्शक -
429) शास्त्र की और विशेषता -
430) शास्त्र-भक्ति रहित साधक का स्वरूप -
431) उदाहरण सहित शास्त्र की उपयोगिता -
432) शास्त्र के अध्ययन की पुनः प्रेरणा -

433-434) शास्त्रज्ञान से रहित साधक का स्वरूप -
437) फल-भोगनेवालों में भेद के कारण -
438) बुद्धि आदि का स्वरूप -
439) बुद्ध्यादि पूर्वक कार्यों के फलभेद की दिशासूचना -
440) बुद्धिपूर्वक कार्य का फल -
441) ज्ञानपूर्वक कार्य का फल -
442) असंमोहपूर्वक कार्य का फल -
443) मोक्षमार्गारूढ़ जीवों का स्वरूप -
444) साधक अनेक, पर साधन एक ही -
445) वस्तुतः निर्वाणपद एक ही -
446) निर्वाण / मोक्ष के लिए अन्य-अन्य नाम -
447) तीन विशेषणों से विशिष्ट निर्वाणतत्त्व -
448) वीतरागता से विवाद का अभाव -
449) सर्वज्ञता से मोक्षमार्ग में एकरूपता -
450) देशना के विभिन्नता का कारण -
451) मुक्ति का कारण -
452) व्यावहारिक चारित्र के दो भेद -
453) मोक्ष एवं संसार के लिये अनुकूल चारित्र -
454) जिनेंद्र-कथित व्यवहार चारित्र मोक्ष के लिये अनुकूल होने का कारण -
455) व्यवहार चारित्र शुद्धात्मा के ध्यान में कारण -
456) सर्वोत्तम चारित्र के धारक योगीश्वर का स्वरूप -

चूलिका अधिकार

457) मुक्तजीव सदा आनन्दित रहते हैं -
458) मुक्तात्मा का चैतन्य निरर्थक नहीं -
459-460) चैतन्य को आत्मा का निरर्थक स्वभाव मानने पर दोषापत्ति -
461) मुक्ति में भी आत्मा का अभाव नहीं -
462-463) जीव के स्वभाव-विभाव का दृष्टान्त सहित निरूपण -
464) निमित्त के अभाव से नैमित्तिकभाव का अभाव -
465) कर्मरूप आवरण का नाश क्षणभर में -
466) योग का लक्षण -
467) ध्यान से उत्पन्न सुख की विशेषता -
468) सुख एवं दुःख का संक्षिप्त लक्षण -
469) भोग एवं आत्मज्ञान का स्वरूप -
470) ध्यान का लक्षण -
471) मूढ़ जीवों की मान्यता -
472-473) आत्मा का महान रोग -
474) सिद्ध जीव पुनः संसारी नहीं हो सकता -
475) सिद्ध संसारी नहीं होते, इसका सोदाहरण समर्थन -
476) ज्ञानी के भोग संसार के कारण नहीं -
477-478) ज्ञानी भोगों में अनासक्त और अनासक्ति से मोक्ष -
479) तत्त्वदृष्टिवंत जीव का स्वरूप -
480) तत्त्वदृष्टिहीन जीव का स्वरूप -
481) भोग का फल -
482) विद्वानों की दृष्टि में लक्ष्मी और भोग -
483) सच्चा वैराग्य का स्वरूप -
484) परम भक्ति का स्वरूप -
485) सच्चे त्याग का स्वरूप -
486) ज्ञानी पापों से निर्लिप्त -
487) ज्ञान की महिमा -
488) तत्त्वचिंतकों का अलौकिक ध्येय तत्त्व -
489) निज परम तत्त्व एक ही उपादेय -
490) मुमुक्षुओं का स्वरूप -

491) मुमुक्षु की निर्विकल्पता -
492) आत्मा जड़ कर्मों से सदा भिन्न -
493) नामकर्मजन्य अवस्थाओं से आत्मा सदा भिन्न -
494) मोहकर्मजन्य रागादि भावों से आत्मा सदा भिन्न -
495) कषाय परिणाम का कर्ता कर्म है -
496) कषाय परिणामों का स्वरूप -
497) कालुष्य और कर्म में निमित्त-नैमित्तिक संबंध -
498) कषाय के अभाव से शुद्धि / वीतरागता की वृद्धि -
499) कषाय के अभाव से सिद्धदशा की प्राप्ति -
500) आत्मा का यथार्थ स्वरूप -
501) व्यक्तरूप परमज्योति का स्वरूप -
502) सब द्रव्य स्वस्वभाव में स्थित है -
503) आत्मा भी अपने स्वभाव में स्थित -
504) देह और आत्मा की सकारण भिन्नता -
505) कर्म एवं जीव एक-दूसरे के गुणों के घातक नहीं -
506) निमित्त के अभाव में मोक्ष -
507) जीव का पर्याय के साथ क्षणिक तादात्म्य संबंध -
508) आत्मभावना के अभ्यास की प्रेरणा -
509) कर्ममल से रहित आत्मा निर्बंध -
510-511) उपादान कारण बिना कार्य नहीं होता -
512) कर्मबंध का उपादान कारण -
513-514) जीव कषायादिरूप नहीं होता -
515) कर्ता जीव निराकर्ता बनता है -
516) अनासक्त ज्ञानी विषयभोगों से निर्बंध -
517) भेदज्ञान का माहात्म्य -
518) जीव के भाव एवं उनका कार्य -
519) मोक्ष के उपाय का उपदेश -
520) उत्कृष्ट योगी का स्वरूप -
521) इंद्रिय-विषयासक्त जीव का स्वरूप -
522) भोग के संदर्भ में अज्ञानी-ज्ञानी का स्वरूप -
523) विरक्त त्यागी का स्वरूप -
524) भोग के सन्दर्भ में रागी एवं विरागी का स्वरूप -
525) स्पर्शादि विषयों को जानने से कर्मबंध नहीं -
526) मिथ्यात्व ही कर्मबंध में प्रमुख कारण है, विषय-ग्रहण नहीं -
527) वीतरागभाव ही धर्म है -
528) प्रत्याख्यानादि से रहित मुनिराज का स्वरूप -
529) रागी सर्वदा दोषी -
530) कर्मबंध एवं मुक्ति का कारणरूप भाव -
531) आत्मा के अनुभव की प्रेरणा -
532) ज्ञान के दो भेद -
533) वस्तुत: ज्ञान के भेद नहीं -
534) ज्ञानी का ज्ञेय से भेदज्ञान -
535) स्वभाव और विभाव ज्ञान का स्वरूप -
536) संसारच्छेद का स्वरूप -
537) दोनों संसारच्छेद में तुलना -
538) जन्म तथा जीवन की सफलता -
539) ग्रंथ तथा ग्रंथकार की प्रशस्ति -
540) इस ग्रन्थ के अध्ययन का फल -

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!

श्रीमद्-भगवत्अमितगतिदेव-प्रणीत

श्री

योगसार-प्राभृत

मूल अपभ्रंश गाथा

आभार :

!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥

अर्थ : बिन्दुसहित ॐकार को योगीजन सर्वदा ध्याते हैं, मनोवाँछित वस्तु को देने वाले और मोक्ष को देने वाले ॐकार को बार बार नमस्कार हो । निरंतर दिव्य-ध्वनि-रूपी मेघ-समूह संसार के समस्त पापरूपी मैल को धोनेवाली है मुनियों द्वारा उपासित भवसागर से तिरानेवाली ऐसी जिनवाणी हमारे पापों को नष्ट करो । जिसने अज्ञान-रूपी अंधेरे से अंधे हुये जीवों के नेत्र ज्ञानरूपी अंजन की सलाई से खोल दिये हैं, उस श्री गुरु को नमस्कार हो । परम गुरु को नमस्कार हो, परम्परागत आचार्य गुरु को नमस्कार हो ।

॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री-योगसार-प्राभृत नामधेयं, अस्य मूल-ग्रन्थकर्तार: श्री-सर्वज्ञ-देवास्तदुत्तर-ग्रन्थ-कर्तार: श्री-गणधर-देवा: प्रति-गणधर-देवास्तेषां वचनानुसार-मासाद्य आचार्य श्री-अमितगति-देव विरचितं ॥

(समस्त पापों का नाश करनेवाला, कल्याणों का बढ़ानेवाला, धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला, भव्यजीवों के मन को प्रतिबुद्ध-सचेत करनेवाला यह शास्त्र योगसार-प्राभृत नाम का है, मूल-ग्रन्थ के रचयिता सर्वज्ञ-देव हैं, उनके बाद ग्रन्थ को गूंथनेवाले गणधर-देव हैं, प्रति-गणधर देव हैं उनके वचनों के अनुसार लेकर आचार्य श्रीअमितगतिदेव द्वारा रचित यह ग्रन्थ है । सभी श्रोता पूर्ण सावधानी पूर्वक सुनें ।)

॥ श्रोतार: सावधानतया शृणवन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

(छप्पय)

बन्दौं आदि जिनेस, पापतमहरन दिनेस्वर ।
बन्दत हौं प्रभु चंद, चंद दुख तपन हनेस्वर ॥
सांतिनाथ बंदामि, मेघसम सान्तिप्रकासक ।
नमौं नमौं महावीर, वीर भौ-पीर-विनासक ।
चौवीसौं जिनराज का, धर्म जगत मैं विस्तरौ ।
सुभ ज्ञान भगति वैरागमय, धर्म विलास प्रगट करौ ॥
(- कवि द्यानतराय)

जीव अधिकार - ग्रंथकार का मंगलाचरण एवं उद्देश्य

विविक्तमव्ययं सिद्धं स्व-स्वभावोपलब्धये ।।
स्व-स्वभावमयं बुद्धं ध्रुवं स्तौमि विकल्मषम् ॥1॥

अन्वयार्थ : (अहं) स्व-स्वभावोपलब्धये विकल्मषं विविक्तं अव्ययं ध्रुवं बुद्धं स्व-स्वभावमयं सिद्धं स्तौमि ।

(मैं अमितगति आचार्य) [स्व-स्वभावोपलब्धये] अपने स्वभाव की प्राप्ति के लिये उन [सिद्धं] सिद्धों की [स्तौमि] स्तुति करता हूँ; जो [विकल्मषम्] शुद्ध, वीतराग, [बुद्धं] ज्ञानमय, [विविक्तमव्ययं] अविनाशी, अच्युत, [ध्रुवं] नित्य एवं [स्व-स्वभावमयं] अपने स्वरूप में स्थित हैं ।

जीव एवं अजीव तत्त्वों को जानने का फल

जीवाजीवद्वयं त्यक्त्वा नापरं विद्यते यत: ।
तल्लक्षणं ततो ज्ञेयं स्व-स्वभाव-बुभुत्सुया ॥2॥
यो जीवाजीवयोर्वेत्ति स्वरूपं परमार्थत: ।
सोऽजीव-परिहारेण जीवतत्त्वे निलीयते ॥3॥
जीव-तत्त्व-निलीनस्य राग-द्वेष-परिक्षय: ।
तत: कर्माश्रयच्छेदस्ततो निर्वाण-संगम: ॥4॥

अन्वयार्थ : यत: (लोक) जीवाजीवं द्वयं त्यक्त्वा अपरं न विद्यते, तत: स्व-स्वभावबुभुत्सया तल्लक्षणं ज्ञेयम् । य: परमार्थत: जीवाजीवयो: स्वरूपं वेत्ति स: अजीवपरिहारेण जीवतत्त्वे निलीयते । जीवतत्त्व-निलीनस्य राग-द्वेष-परिक्षय: (भवति) तत: कर्माश्रयच्छेद: (भवति), तत: निर्वाण-संगम: (जायते) ।

क्योंकि इस विश्व में जीव और अजीव इन दो द्रव्यों को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं है । इसलिये अपने स्वरूप को जानने की इच्छा से जीव और अजीव द्रव्यों का लक्षण जानना चाहिए । जो साधक, जीव और अजीव तत्त्वों के स्वरूप को परमार्थरीति से जानता है, वह अजीव तत्त्व के परिहार पूर्वक जीव तत्त्व में निमग्न हो जाता है ।

निजस्वभाव को जानने का फल

परद्रव्यबहिर्भूतं स्व-स्वभावमवैति य: ।
परद्रव्ये स कुत्रापि न च द्वेष्टि न रज्यति ॥5॥

अन्वयार्थ : य: परद्रव्यबहिर्भूतं स्व-स्वभावं अवैति स: परद्रव्ये कुत्र अपि न रज्यति न च द्वेष्टि ।

जो परद्रव्य से बहिर्भूत अपने स्वभाव को जानता है, वह परद्रव्य में **अर्थ**ात् परद्रव्य की किसी भी अवस्था में न राग करता है न द्वेष करता है ।

आत्मा का लक्षण उपयोग और उसके भेद

उपयोगो विनिर्दिष्टस्तत्र लक्षणमात्मन: ।
द्वि-विधो दर्शन-ज्ञान-प्रभेदेन जिनाधिपै: ॥6॥

अन्वयार्थ : तत्र जिनाधिपै: आत्मन: लक्षणं उपयोग: विनिर्दिष्ट: । (स: उपयोग:) दर्शनज्ञान-प्रभेदेन द्विविध: ।

जीव एवं अजीव इन दो में से आत्मा का लक्षण जिनेन्द्रदेव ने उपयोग कहा है । वह उपयोग दर्शन एवं ज्ञान के भेद से दो प्रकार का है ।

दर्शन के भेद एवं उसका लक्षण

चतुर्धा दर्शनं तत्र चक्षुषोऽचक्षुषोऽवधे: ।
केवलस्य च विज्ञयें वस्तुसामान्य-वदे कम् ॥7॥

अन्वयार्थ : तत्र (उपयोगलक्षणे) वस्तु-सामान्य-वेदकं दर्शनम् । (तत्) चक्षुष: अचक्षुष: अवधे: केवलस्य च (भेदात्) चतुर्धा विज्ञेयम् ।
सरलार्थ :- जीव के उपयोगलक्षण में वस्तु-सामान्य का वेदन करनेवाला दर्शनोपयोग है और वह चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन व केवलदर्शन के भेद से चार प्रकार का है ।

ज्ञान के भेद एवं उसका लक्षण

मति: श्रुतावधी ज्ञाने मन:पर्यय-केवले ।
सज्ज्ञानं पंचधावाचि विशेषाकारवेदनम् ॥8॥
मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभंगज्ञान-भेदत: ।
मिथ्याज्ञानं त्रिधेत्येवमष्टधा ज्ञानमुच्यते ॥9॥
अन्वयार्थ : ज्ञाने सत्-ज्ञानं मति: श्रुतावधी मन:पर्यय-केवले पञ्चधा अवाचि । (तत् ज्ञानं) विशेषाकारवेदनं (अस्ति) । मिथ्याज्ञानं मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभंगज्ञान-भेदत: त्रिधा (भवति)। इति एवं ज्ञानं अष्टधा उच्यते ।
ज्ञानोपयोग में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान यह पांच प्रकार का ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहा गया है और यह ज्ञान विशेषाकार वेदनरूप है । मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभंगज्ञान के भेद से मिथ्याज्ञान तीन प्रकार का है । इसतरह ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का कहा जाता है ।

केवलज्ञान व केवलदर्शन के उत्पत्ति में कारण

उदेति केवलज्ञानं तथा केवलदर्शनम् ।
कर्मण: क्षयत: सर्वं क्षयोपशमत: परम् ॥10॥
अन्वयार्थ : केवलज्ञानं तथा केवलदर्शनं कर्मण: क्षयत: उदेति । परं सर्वं (दर्शनं ज्ञानं च) कर्मण: क्षयोपशमत: (उदेति) ।
केवलदर्शन तथा केवलज्ञान मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अंतराय कर्मों के क्षय (नाश) से उदित (प्रगट) होते हैं । शेष (अचक्षुदर्शनादि तीन दर्शन एवं मतिज्ञानादि सात ज्ञान ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अंतराय) कर्मों के क्षयोपशम से प्रगट होते हैं ।

दर्शन और ज्ञान की उत्पत्ति का क्रम

यौगपद्येन जायेते केवलज्ञान-दर्शने ।
क्रमेण दर्शनं ज्ञानं परं नि:शेषमात्मन: ॥11॥
अन्वयार्थ : आत्मन: केवलज्ञान-दर्शने यौगपद्येन जायेते । नि:शेषं परं दर्शनं ज्ञानं क्रमेण (जायेते) ।
आत्मा के केवलज्ञान औेर केवलदर्शन (ये दो उपयोग) युगपत् (एकसाथ) प्रगट होते हैं । शेष सब दर्शन (चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन ये तीन दर्शन) ज्ञान (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान एवं विभंगज्ञान ये सात ज्ञान) क्रम से (उदय को प्राप्त होते हैं **अर्थ**ात् प्रगट) होते हैं ।

मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान के कारण

मिथ्याज्ञानं मतं तत्र मिथ्यात्वसमवायत: ।
सम्यग्ज्ञानं पुनर्जैनै: सम्यक्त्वसमवायत: ॥12॥
अन्वयार्थ : तत्र (ज्ञानोपयोगे) मिथ्यात्वसमवायत: मिथ्याज्ञानं (भवति), पुन: सम्यक्त्वसम वायत: सम्यग्ज्ञानं (भवति इत्थं) जैनै: मतम् ।
जैनदर्शन में ज्ञान को मिथ्यात्व के निमित्त से मिथ्याज्ञान और सम्यक्त्व के निमित्त से सम्यग्ज्ञान माना गया है ।

मिथ्यात्व का स्वरूप और कार्य

वस्त्वन्यथापरिच्छेदो ज्ञाने संपद्यते यत: ।
तन्मिथ्यात्वं मतं सद्भि: कर्मारामोदयोदकम् ॥13॥

अन्वयार्थ : यत: ज्ञाने वस्तु-अन्यथा-परिच्छेद: संपद्यते तत् मिथ्यात्वं (भवति इति) सद्भि: मतं । तत् कर्मारामोदयोदकं (कर्म-आरामस्य उदयस्य कृते उदकं इव अस्ति) ।
जिसके कारण ज्ञान में वस्तु की अन्यथा/विपरीत जानकारी होती है, उसको सत्पुरुषों ने मिथ्यात्व माना है । वह मिथ्यात्व कर्मरूपी बगीचे को उगाने के लिये जल के समान है ।

दर्शनमोहनीय कर्म के तीन भेद

उदये दृष्टिमोहस्य गृहीतमगृहीतकम् ।
जातं सांशयिकं चेति मिथ्यात्वं तत् त्रिधा विदु: ॥14॥
अन्वयार्थ : दृष्टिमोहस्य उदये (सति) जातं तत् मिथ्यात्वं गृहीतं अगृहीतकं सांशयिकं च इति त्रिधा विदु: ।
दर्शनमोहनीय कर्म का उदय होनेपर उत्पन्न हुआ यह मिथ्यात्व गृहीत, अगृहीत और सांशयिक ऐसा तीन प्रकार का जानना चाहिए ।

मिथ्यात्व का स्वरूप

अतत्त्वं मन्यते तत्त्वं जीवो मिथ्यात्वभावित: ।
अस्वर्णीक्षते स्वर्णं न किं कनकमोहित: ॥15॥
अन्वयार्थ : मिथ्यात्वभावित: जीव: अतत्त्वं तत्त्वं मन्यते (यथा) कनकमोहित: (जीव:) किं अस्वर्णं स्वर्णं न ईक्षते ? (अर्थात् ईक्षते एव) ।
मिथ्यात्व से प्रभावित हुआ जीव अतत्त्व को तत्त्व मानता है । धतूरे से मोहित प्राणी क्या अस्वर्ण को स्वर्णरूप में नहीं देखता ?

सम्यक्त्व का स्वरूप

यथा वस्तु तथा ज्ञानं संभवत्यात्मनो यत: ।
जिनैरभाणि सम्यक्त्वं तत्क्षमं सिद्धिसाधने ॥16॥
अन्वयार्थ : यथा वस्तु तथा आत्मनः ज्ञानं यतः संभवति (तत्) सम्यक्त्वं जिनैः अभाणि, तत् सिद्धिसाधने क्षमं (भवति) ।
वस्तु जिस रूप में है, उसको उसी रूप में जानना आत्मा को जिस कारण से होता है, उसको जिनेन्द्र देव ने सम्यक्त्व कहा है । वह सम्यक्त्व आत्मसिद्धि का साधन है ।

सम्यक्त्व के भेद और उनमें कारण-कार्यपना

मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्व-संयोजन-चतुष्टये ।
क्षयं शमं द्वयं प्राप्ते सप्तधा मोहकर्मणि ॥17॥
क्षायिकं शामिकं ज्ञेयं क्षायोपशमिकं त्रिधा ।
तत्रापि क्षायिकं साध्यं साधनं द्वितयं परम् ॥18॥
अन्वयार्थ : मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्वसंयोजनचतुष्टये सप्तधा मोहकर्मणि क्षयं शमं द्वयं प्राप्ते (सति) (तत् सम्यक्त्वं) क्षायिकं शामिकं क्षयोपशामिकं (च इति) त्रिधा ज्ञेयं । तत्रापि क्षायिकं साध्यं (भवति), परं द्वितयं साधनं (वर्तते) ।
मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति ये तीन दर्शनमोहनीय और संयोजन चतुष्टय **अर्थ**ात् अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ ये चार चारित्रमोहनीय - इसप्रकार कुल मिलाकर मोहनीयकर्म की सात प्रकृतियाँ क्षय को, उपशम को और क्षयोपशम को प्राप्त होने पर क्रमश: क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक इस तरह तीन प्रकार का सम्यक्त्व होता है । उन तीनों सम्यक्त्वों में क्षायिक सम्यक्त्व साध्य है और शेष दो औपशमिक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व साधन है ।

आत्मा का ज्ञानप्रमाणपना और ज्ञान का सर्वगतत्व

ज्ञानप्रमाणमात्मानं ज्ञानं ज्ञेयप्रमं विदु: ।
लोकालोकं यतो ज्ञेयं ज्ञानं सर्वगतं तत: ॥19॥

अन्वयार्थ : आत्मानं ज्ञानप्रमाणं विदु: । ज्ञानं ज्ञेयप्रमं (विदु:) । यत: ज्ञेयं (सर्वं) लोकालोकं (भवति); तत: ज्ञानं सर्वगतम् (अस्ति) ।
जिनेन्द्रदेव ने आत्मा को ज्ञानप्रमाण (ज्ञान जितना) और ज्ञान को ज्ञेयप्रमाण (ज्ञेयों के बराबर) जाना है; चूँकि ज्ञेय लोकालोकरूप है, अत: ज्ञान सर्वगत है ।

आत्मा से ज्ञान को अधिक मानने पर आपत्ति

यद्यात्मनोऽधिकं ज्ञानं ज्ञेयं वापि प्रजायते ।
लक्ष्य-लक्षणभावोऽस्ति तदानीं कथमेतयो: ॥20॥
अन्वयार्थ : यदि आत्मन: ज्ञानं वा ज्ञेयं अपि अधिकं प्रजायते तदानीं एतयो: लक्ष्य-लक्षण-भाव: कथं अस्ति ?
यदि आत्मा से ज्ञान अथवा ज्ञेय भी अधिक होता है तो आत्मा और ज्ञान में लक्ष्य-लक्षणभाव कैसे बन सकता है ?

ज्ञेयक्षिप्त ज्ञान की व्यापकता

क्षीरक्षिप्तं यथा क्षीरमिन्द्रनीलं स्वतेजसा ।
ज्ञेयक्षिप्तं तथा ज्ञानं ज्ञेयं व्याप्नोति सर्वत: ॥21॥
अन्वयार्थ : यथा क्षीरक्षिप्तं इन्द्रनीलं सर्वत: स्वतेजसा क्षीरं व्याप्नोति तथा ज्ञेयक्षिप्तं ज्ञानं ज्ञेयं (सर्वत: व्याप्नोति) ।
जैसे दूध में पड़ा हुआ इन्द्रनीलमणि अपने तेज/प्रभा से दूध में सब ओर से व्याप्त हो जाता है; उसीप्रकार ज्ञेय के मध्यस्थित ज्ञान अपने ज्ञानरूपी प्रकाश से ज्ञेय समूह को पूर्णत: व्याप्त कर ज्ञेयों को प्रकाशित करता है ।

ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता

चक्षुर्गृह्णद्यथा रूपं रूपरूपं न जायते ।
ज्ञानं जानत्तथा ज्ञेयं ज्ञेयरूपं न जायते ॥22॥
अन्वयार्थ : यथा चक्षु: रूपं गृह्णत् रूपरूपं न जायते तथा ज्ञेयं जानत् ज्ञानं ज्ञेयरूपं न जायते ।
जिसप्रकार आँख रंग-रूप को ग्रहण करती/जानती हुई रंग-रूपमय नहीं हो जाती, उसीप्रकार ज्ञान ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञेयरूप नहीं होता; परन्तु ज्ञानरूप ही रहता है ।

ज्ञान, दूरवर्ती पदार्थ को भी स्वभाव से जानता है

दवीयांसमपि ज्ञानमर्थं वेत्ति निसर्गत: ।
अयस्कान्त: स्थितं दूरे नाकर्षति किमायसम् ॥23॥
अन्वयार्थ : ज्ञानं दवीयांसं अर्थं अपि निसर्गत: वेत्ति (यथा) अयस्कान्त: दूरे स्थितं आयसं किं न आकर्षति ?
ज्ञान, क्षेत्र-कालादि की अपेक्षा से दूरवर्ती पदार्थ समूह को भी स्वभाव से जानता है । क्या चुम्बकपाषाण दूरी पर स्थित लोहे को अपनी ओर नहीं खींचता ?

ज्ञान, स्वभाव से ही स्व-पर प्रकाशक है

ज्ञानमात्मानमर्थं च परिच्छित्ते स्वभावत: ।
दीप उद्योतयत्यर्थं स्वस्मिन्नान्यमपेक्षते ॥24॥
अन्वयार्थ : ज्ञानं स्वभावतः आत्मानं अर्थं च परिच्छित्ते (यथा) दीपः अर्थं उद्योतयति स्वस्मिन् अन्यं न अपेक्षते ।
ज्ञान अपने को और पदार्थ को स्वभाव से जानता है । जैसे - दीपक पदार्थ को प्रकाशित करता है, उसे अपने को प्रकाशित करने में भी किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती है ।

क्षायोपशमिक एवं क्षायिक ज्ञान का स्वरूप

क्षायोपशमिकं ज्ञानं कर्मापाये निवर्तते ।
प्रादुर्भवति जीवस्य नित्यं क्षायिकमुज्ज्वलम् ॥25॥
अन्वयार्थ : कर्मापाये (कर्म-अपाये) जीवस्य क्षायोपशमिकं ज्ञानं निवर्तते, नित्यं उज्ज्वलं क्षायिकं (ज्ञानं) प्रादुर्भवति ।
मोहनीय आदि चारों घाति कर्मों के नाश होने पर जीव का क्षायोपशमिक ज्ञान नष्ट हो जाता है और निर्मल क्षायिक ज्ञान सदा उदय को प्राप्त होता है (सदा व्यक्त रहता है) ।

केवलज्ञान की सत्-असत् विषय में प्रवृत्ति

सन्तमर्थसन्तं च काल-त्रितय-गोचरम् ।
अवैति युगपज्ज्ञानमव्याघातमनुत्तमम् ॥26॥
अन्वयार्थ : अव्याघातं अनुत्तमं (क्षायिकं) ज्ञानं काल-त्रितय-गोचरं सन्तं असन्तं अर्थं च युगपद् अवैति ।
अव्याघात और सर्वोत्तम क्षायिकज्ञान त्रिकाल (वर्तमान, भूत, भविष्य) विषयक सत्-असत् सभी पदार्थों को युगपत् जानता है ।

सत्-असत् पदार्थों का खुलासा

असन्तस्ते मता दक्षैरतीता भाविनश्च ये ।
वर्तमाना: पुन: सन्तस्त्रैलोक्योदरवर्तिन: ॥27॥
अन्वयार्थ : दक्षैः ये त्रैलोक्योदर-वर्तिन: अतीता: भाविन: च (पदार्था:) ते असन्त: पुन: वर्तमाना: सन्त: मता: ।
जो पदार्थ तीन लोक के उदर में भूतकाल में थे और भविष्यकाल में रहेंगे, उन्हें विवेकी पुरुष असत् मानते हैं । तथा जो पदार्थ वर्तमान काल में हैं, उन्हें सत् मानते हैं ।

भूत-भावी पदार्थों को जानने का स्वरूप

अतीता भाविनश्चार्था: स्वे स्वे काले यथाखिला: ।
वर्तमानास्ततस्तद्वद्वेत्ति तानपि केवलम् ॥28॥
अन्वयार्थ : तत: अतीताः भाविनः च अखिलाः अर्थाः स्वे स्वे काले यथा वर्तमानाः तान् अपि केवलं (केवलज्ञानं) तद्वत् वेत्ति ।
अतीत और अनागत सम्पूर्ण पदार्थ अपने-अपने काल में जिस-जिस रूप में वर्तते हैं; उनको उसी रूप में वर्तमानकालीन पदार्थों के समान केवलज्ञान जानता है ।

सब पदार्थों में केवलज्ञान के युगपत प्रवृत्त न होने पर दोषापत्ति

सर्वेषु यदि न ज्ञानं यौगपद्येन वर्तते ।
तदैकमपि जानाति पदार्थं न कदाचन ॥29॥
एकत्रापि यतोऽनन्ता: पर्याया: सन्ति वस्तुनि ।
क्रमेण जानता सर्वे ज्ञायन्ते कथ्यतां कदा ॥30॥
अन्वयार्थ : यदि ज्ञानं सर्वेषु यौगपद्येन न वर्तते तदा एकं अपि पदार्थं कदाचन न जानाति; यत: एकत्रापि वस्तुनि अनन्ता: पर्याया: सन्ति सर्वे क्रमेण जानता कदा ज्ञायन्ते कथ्यताम् ?
यदि केवलज्ञान सब पदार्थों को युगपत्/एकसाथ नहीं जानता है तो वह केवलज्ञान एक वस्तु को भी कभी नहीं जान सकता; क्योंकि एक वस्तु में भी अनंत पर्यायें होती हैं । क्रम से जानते हुए वे सब पर्यायें कबतक जानी जायेंगी सो बतलाओ ? एक वस्तु के पर्यायों का भी अंत नहीं आने से कभी एक वस्तु का भी पूरा-जानना नहीं हो सकेगा ।

भव्यात्मा ही परमात्मा के स्वरूप को स्वीकारता है

घातिकर्मक्षयोत्पन्नं यद्रूपं परमात्मन: ।

श्रद्धत्ते भक्तितो भव्यो नाभव्यो भववर्धक: ॥31॥

अन्वयार्थ : परमात्मनः घातिकर्मक्षयोत्पन्नं यद् रूपं भव्यः भक्तितः श्रद्धत्ते भववर्धकः अभव्यः न (श्रद्धत्ते) ।

घाति कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुये परमात्मा के जिस स्वरूप का भव्यात्मा भक्ति से श्रद्धान करता है; अभव्य जीव उसका श्रद्धान नहीं करता; क्योंकि वह अभव्य जीव स्वभाव से भववर्धक होता है ।

निज शुद्धात्मा का स्वरूप एवं उसके श्रद्धान का फल

यत्सर्वार्थवरिष्ठं यत्क्रमातीतमतीन्द्रियम् ।

श्रद्दधात्यात्मनो रूपं स याति पदमव्ययम् ॥32॥

अन्वयार्थ : (यः) आत्मनः यत् सर्वार्थवरिष्ठं यत् क्रमातीतं अतीन्द्रियं रूपं श्रद्धधाति सः अव्ययं पदं याति ।

जो सर्व पदार्थों में श्रेष्ठ है, क्रमातीत (आदि-मध्य-अंत से रहित) है और अतीन्द्रिय (इन्द्रियज्ञानगोचर नहीं) है - आत्मा के ऐसे स्व-रूप का जो जीव श्रद्धान करता है, वह अविनाशी पद - मोक्ष को प्राप्त होता है ।

आत्मसाधक का एवं आत्मा का स्वरूप

निर्व्यापारीकृताक्षस्य यत्क्षणं भाति पश्यत: ।

तद्रूपमात्मनो ज्ञेयं शुद्धं संवेदनात्मकम् ॥33॥

अन्वयार्थ : निर्व्यापारीकृताक्षस्य क्षणं पश्यतः यद् भाति तद् शुद्धं संवेदनात्मकं आत्मनः रूपं ज्ञेयं ।

इन्द्रिय और मन के व्यापार को रोककर एवं क्षणभर के लिये अन्तर्मुख होकर देखनेवाले योगी को आत्मा का जो रूप दिखाई देता है/ अनुभव में आता है, उसे आत्मा का शुद्ध संवेदनात्मक / ज्ञानात्मक रूप जानना चाहिए ।

श्रुतज्ञान से भी केवलज्ञान के समान आत्मबोध की प्राप्ति

आत्मा स्वात्मविचारज्ञैर्नीरागीभूतचेतनै: ।

निरवद्यश्रुतेनापि केवलेनेव बुध्यते ॥34॥

अन्वयार्थ : स्व-आत्म-विचारज्ञै: नीरागीभूतचेतनै: निरवद्यश्रुतेन अपि आत्मा केवलेन इव बुध्यते ।

निज आत्मा के विचार में निपुण रागरहित (साम्यभावरूप परिणत सम्यग्दृष्टि) जीव निर्दोष श्रुतज्ञान से भी आत्मा को केवलज्ञान के समान जानते हैं ।

सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति का काल

रागद्वेषापराधीनं यदा ज्ञानं प्रवर्तते ।

तदाभ्यधायि चारित्रमात्मनो मलसूदनम् ॥35॥

अन्वयार्थ : यदा ज्ञानं राग-द्वेष-अपराधीनं प्रवर्तते तदा आत्मन: मलसूदनं चारित्रं अभ्यधायि ।

जब ज्ञान (आत्मा) राग-द्वेष की पराधीनता से रहित प्रवर्तता है, तब आत्मा के कर्मरूपी मल का नाशक चारित्र होता है, ऐसा कहा है ।

कषाय से स्वभावच्युत आत्मा के व्रत नहीं

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्म संगविवर्जनम् ।

कषाय-विकले ज्ञाने समस्तं नैव तिष्ठति ॥36॥

अन्वयार्थ : ज्ञाने कषाय-विकले (सति) अहिंसा सत्यं अस्तेयं ब्रह्म संगविवर्जनं (च एतत्) समस्तं (व्रतं) नैव तिष्ठति ।

ज्ञान (आत्मा) जब क्रोधादि कषाय परिणामों से विकल (व्याकुलित) होने पर (आत्मस्थिरतारूप स्वभाव से च्युत होता है); तब अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रहभाव समस्त ही (महाव्रतरूप) भाव स्थिर नहीं रहते (नष्ट हो जाते हैं) ।

आत्मरमणता से पापों का पलायन

हिंसत्वं वितथं स्तेयं मैथुनं संगसंग्रह: ।
आत्मरूपगते ज्ञाने नि:शेषं प्रपलायते ॥37॥

अन्वयार्थ : ज्ञाने आत्मरूपगते हिंसत्वं वितथं स्तेयं मैथुनं संगसंग्रह: नि:शेषं प्रपलायते ।

ज्ञान के आत्मरूप में परिणत होने पर (आत्मा के आत्मस्वरूप में लीन होने पर) हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह - ये पाँचों पाप भाग जाते हैं (कोई भी पाप नहीं रहता) ।

आत्मा के ध्यान से कर्मों से छुटकारा

चारित्रं दर्शनं ज्ञानमात्मरूपं निरञ्जनम् ।
कर्मभिर्मुच्यते योगी ध्यायमानो न संशय: ॥38॥

अन्वयार्थ : निरञ्जनं ज्ञानं दर्शनं चारित्रं (च) आत्मरूपं ध्यायमान: योगी कर्मभि: मुच्यते न संशय: ।

निर्मल दर्शन, ज्ञान, चारित्र यह आत्मा का स्वरूप (स्वभाव) है । इस आत्मस्वरूप को ध्याते हुये योगी कर्मों से छूट जाते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं ।

आत्मध्यान से विमुख योगी का स्वरूप

य: करोति परद्रव्ये रागमात्मपरांमुख: ।
रत्नत्रयमयो नासौ न चारित्रचरो यति: ॥39॥

अन्वयार्थ : य: यति: आत्म-परांमुख: परद्रव्ये रागं करोति असौ न रत्नत्रयमय: न चारित्रचर: ।

जो योगी आत्मस्वभाव से विमुख होकर परद्रव्य में राग/प्रीति करता है, वह योगी न रत्नत्रयसम्पन्न है और न सम्यक् चारित्र का आचरण करनेवाला है ।

निश्चयचारित्र का स्वरूप

अभिन्नमात्मन: शुद्धं ज्ञानदृष्टियं स्फुट् ।
चारित्रं चर्यते शश्वच्चारु-चारित्रवेदिभि: ॥40॥

अन्वयार्थ : चारु-चारित्रवेदिभि: आत्मन: अभिन्नं शुद्धं ज्ञानदृष्टियं स्फुटं चारित्रं शश्वत् चर्यते ।

सम्यग्चारित्र के अनुभवी महापुरुष आत्मा से अभिन्न, शुद्ध (वीतरागमय), सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान सहित स्पष्ट (व्यक्त), चारित्र का निरंतर आचरण करते हैं ।

व्यवहाररत्नत्रय का स्वरूप

आचार-वेदनं ज्ञानं सम्यक्त्वं तत्त्व-रोचनम् ।
चारित्रं च तपश्चर्या व्यवहारेण गद्यते ॥41॥

अन्वयार्थ : व्यवहारेण तत्त्व-रोचनं सम्यक्त्वं, आचार-वेदनं ज्ञानं, तपश्चर्या च चारित्रं गद्यते ।

व्यवहारनय की अपेक्षा से तत्त्वरुचि को सम्यग्दर्शन, आचारादि शास्त्र के अंगों के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान एवं तपरूप/व्रतादिस्वरूप आचरण को सम्यक्चारित्र कहते हैं ।

रत्नत्रय परिणत आत्मा ही मोक्षमार्ग है

सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र-स्वभाव:परमार्थत: ।
आत्मा रागविनिर्मुक्तो मुक्तिमार्गो विनिर्मल: ॥42॥

अन्वयार्थ : परमार्थत: सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र-स्वभाव: रागविनिर्मुक्तः विनिर्मलः आत्मा (एव) मुक्तिमार्ग: (अस्ति) ।

निश्चय की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभावी रागरहित निर्मल आत्मा ही मोक्षमार्ग (मोक्ष का उपाय/साधन) है ।

आत्मा, स्वयं दर्शन-ज्ञान-चारित्र है

यश्चरत्यात्मनात्मानमात्मा जानाति पश्यति ।
निश्चयेन स चारित्रं ज्ञानं दर्शनमुच्यते ॥43॥

अन्वयार्थ : य: आत्मा निश्चयेन आत्मानं आत्मना पश्यति, जानाति चरति स: दर्शनं ज्ञानं चारित्रं उच्यते ।

जो आत्मा, आत्मा को निश्चयनय से देखता, जानता और आचरता (स्वरूप में प्रवृत्ति करता है), वह आत्मा ही स्वयं दर्शन, ज्ञान और चारित्र कहा जाता है ।

निज शुद्धात्मा की उपासना ही निर्वाणसुख का उपाय

तस्मात्सेव्य: परिज्ञाय श्रद्धयात्मा मुमुक्षुभि: ।
लब्ध्युपाय: परो नास्ति यस्मान्निर्वाणशर्मण: ॥44॥

अन्वयार्थ : तस्मात् मुमुक्षुभि: आत्मा परिज्ञाय श्रद्धया सेव्य:, यस्मात् पर: निर्वाणशर्मण: लब्धि-उपाय: न अस्ति ।

मोक्ष की इच्छा रखनेवाले साधक को कर्ता-कर्म-करण की अभेदता के कारण निश्चित एवं शुद्ध आत्मा की ज्ञानपूर्वक श्रद्धा द्वारा निजात्मा की उपासना करना चाहिए, क्योंकि मोक्षसुख की प्राप्ति का दूसरा कोई उपाय/साधन नहीं है ।

आत्मस्वरूप की अनुभूति का उपाय

निषिध्य स्वार्थतोऽक्षाणि विकल्पातीतचेतस: ।
तद्रूपं स्पष्टाभाति कृताभ्यासस्य तत्त्वत: ॥45॥

अन्वयार्थ : अक्षाणि स्व-अर्थत: निषिध्य कृताभ्यासस्य विकल्पातीत-चेतस: तत् रूपं (आत्मरूपं) तत्त्वत: स्पष्टं आभाति ।

स्पर्शनेन्द्रियादि इन्द्रियों को अपने-अपने स्पर्शादि विषयों से रोककर आत्मध्यान का अभ्यास करनेवाले निर्विकल्पचित्त/ध्याता/साधक को आत्मा का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट/विशद/साक्षात् अनुभव में आता है ।

केवलज्ञान, आत्मा का उत्तम स्वरूप

स्वसंविदितमत्यक्षमव्यभिचारि केवलम् ।
नास्ति ज्ञानं परित्यज्य रूपं चेतयितु: परम् ॥46॥

अन्वयार्थ : अत्यक्षं स्वसंविदितं अव्यभिचारि केवलं ज्ञानं परित्यज्य चेतयितु: परं रूपं नास्ति ।

जो ज्ञान इन्द्रियों की सहायता से रहित है, जिसका कभी भी संशय-विपर्ययादिरूप अन्यथा परिणमन नहीं होता, उस केवलज्ञान को छोड़कर आत्मा का दूसरा कोई उत्तम स्वरूप नहीं है ।

अणुमात्र राग भी पाप का बंधक

यस्य रागोऽणुमात्रेण विद्यतेऽन्यत्र वस्तुनि ।
आत्मतत्त्व-परिज्ञानी बध्यते कलिलैरपि ॥47॥

अन्वयार्थ : यस्य अन्यत्र वस्तुनि अणुमात्रेण राग: विद्यते स: आत्मतत्त्व-परिज्ञानी अपि कलिलै: बध्यते ।

जिसके परवस्तु में सूक्ष्म से सूक्ष्म भी राग विद्यमान है, वह जीव आत्मतत्त्व का ज्ञाता होने पर भी पाप कर्मों से बंधता है ।

परमेष्ठी की उपासना से कर्मक्षय नहीं होता

यो विहायात्मनो रूपं सेवते परमेष्ठिन: ।
स बध्नाति परं पुण्यं न कर्मक्षयमश्नुते ॥48॥

अन्वयार्थ : य: आत्मन: रूपं विहाय परमेष्ठिन: सेवते स: पुण्यं बध्नाति; परं कर्मक्षयं न अश्नुते ।
जो कोई आत्मा के रूप (स्वरूप) को छोड़कर अरहन्तादि परमेष्ठियों के रूप (स्वरूप) को ध्याता है, वह उत्कृष्ट पुण्य तो बांध लेता है; परन्तु कर्मक्षय को प्राप्त नहीं होता ।

आस्रव रोकने/संवर का एकमेव उपाय

नागच्छच्छक्यते कर्म रोद्धुं केनापि निश्चितम् ।
निराकृत्य परद्रव्याण्यात्मतत्त्वरतिं विना ॥49॥
अन्वयार्थ : परद्रव्याणि निराकृत्य आत्मतत्त्वरतिं विना आगच्छन् कर्म निश्चितं केनापि रोद्धुं न शक्यते ।
परद्रव्यों को छोड़कर (हेय अथवा ज्ञेय मानकर) निजात्मतत्त्व में लीनता किये बिना आते हुए कर्म समूह को किसी भी उपाय से रोकना सम्भव नहीं है; यह निश्चित/परमसत्य है ।

परद्रव्योपासक जीव का स्वरूप

ये मूढा लिप्सवो मोक्षं परद्रव्यमुपासते ।
ते यान्ति सागरं मन्ये हिमवन्तं यियासव: ॥50॥
अन्वयार्थ : ये मोक्षं लिप्सव: परद्रव्यं उपासते ते मूढा: हिमवन्तं यियासव: (अपि) सागरं यान्ति; (इति अहं) मन्ये ।
जो मोक्ष की लालसा (तीव्र इच्छा) रखते हुए भी परद्रव्य की उपासना करते हैं (परद्रव्य के भक्त एवं सेवक बने हुए हैं, परद्रव्यों के पीछे सुख की आशा से दौड़ते हैं), वे मूढ़, अज्ञानीजन हिमवान पर्वत पर चढ़ने के इच्छुक होते हुए भी समुद्र की ओर चले जाते हैं; ऐसा मैं (आचार्य अमितगति) मानता हूँ ।

ध्याता, ध्येय के अनुसार हो जाता है

परद्रव्यी भवत्यात्मा परद्रव्यविचिन्तक: ।
क्षिप्रमात्मत्वमायाति विविक्तात्मविचिन्तक: ॥51॥
अन्वयार्थ : परद्रव्यविचिन्तकः आत्मा परद्रव्यी भवति, विविक्तात्मविचिन्तकः क्षिप्रं आत्मत्वं आयाति ।
जो मूढ़ आत्मा परद्रव्यों की चिंता में मग्न रहता है, वह आत्मा परद्रव्य जैसा हो जाता है । जो साधक आत्मा पर से भिन्न निज शुद्धात्मा के ध्यान में मग्न (लीन) रहता है, वह आत्मा शीघ्र आत्मतत्त्व (मोक्ष या मोक्षमार्ग) को प्राप्त कर लेता है ।

ध्येयरूप विविक्तात्मा/शुद्धात्मा का स्वरूप

कर्म-नोकर्म-निर्मुक्तममूर्तं जरामरम् ।
निर्विशेषमसंबद्धमात्मानं योगिनो विदु: ॥52॥
अन्वयार्थ : योगिनः आत्मानं कर्म-नोकर्म-निर्मुक्तं अमूर्तं अजर-अमरं निर्विशेषं असंबद्धं विदुः ।
योगीजन आत्मा को (ज्ञानावरणादि) द्रव्यकर्मों, (राग-द्वेषादि) भावकर्मों और (शरीर आदि) नोकर्मों से रहित; अमूर्त (स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से विहीन); अजर-अमर, (गुणभेद से शून्य) सामान्यस्वरूप और सर्वप्रकार के संबंधों एवं बंधनों से रहित तथा स्वाधीन जानते (मानते / बतलाते) हैं ।

आत्मा में स्वभाव से वर्णादि का अभाव

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्द-देहेन्द्रियादय: ।
चेतनस्य न विद्यन्ते निसर्गेण कदाचन ॥53॥
अन्वयार्थ : चेतनस्य वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्द-देह-इन्द्रियादय: निसर्गेण कदाचन (अपि) न विद्यन्ते ।
चेतन आत्मा में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, देह, इन्द्रियाँ इत्यादिक स्वभाव से किसी समय भी विद्यमान नहीं होते ।

शरीरसंयोग से वर्णादिक शुद्धात्मा के कहे जाते हैं

शरीर-योगत: सन्ति वर्ण-गन्ध-रसादय: ।

स्फटिकस्येव शुद्धस्य रक्त-पुष्पादि-योगत: ॥54॥

अन्वयार्थ : रक्त-पुष्पादियोगतः शुद्धस्य स्फटिकस्य इव (शुद्धात्मनः) वर्ण-गन्ध-रसादयः शरीरयोगतः सन्ति ।

जैसे शुद्ध **अर्थ**ात् श्वेत स्फटिक मणि के लाल (पीले, हरे) आदि पुष्पों के संयोग (निमित्त) से लाल (पीले, हरे) आदि रंग देखे जाते हैं; वैसे शरीर के संयोग से शुद्धात्मा के वर्ण, गंध, रस आदि कहे जाते हैं ।

औदयिक भावों को जीव का स्वभाव मानने से आपत्ति

राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोह-पुरस्सरा: ।

भवन्त्यौदयिका दोषा: सर्वे संसारिण: सत: ॥55॥

यदि चेतयितु: सन्ति स्वभावेन क्रुधादयः ।

भवन्तस्ते विमुक्तस्य निवार्यन्ते तदा कथम् ॥56॥

अन्वयार्थ : संसारिण: सत: राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोह-पुरस्सरा: सर्वे दोषा: औदयिका: भवन्ति । यदि क्रुधादय: चेतयितु: स्वभावेन सन्ति तदा ते विमुक्तस्य भवन्त: कथं निवार्यन्ते ?

संसारी जीव के जो राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोह आदि दोष होते हैं वे सब भाव कर्मों के उदय के निमित्त से होते हैं, अतः औदयिकरूप हैं, स्वभावरूप नहीं ।

यदि क्रोधादिक दोषों का होना जीव के स्वभावस्वरूप माना जाय तो उन दोषों का मुक्त जीव के भी रहने (होने) का निषेध कैसे किया जा सकता है? क्योंकि स्वभाव का कभी अभाव नहीं हो सकता ।

गुणस्थानादि जीव नहीं हैं

गुणजीवादय: सन्ति विंशतिर्या: प्ररूपणा: ।

कर्मसंबंधनिष्पन्नास्ता जीवस्य न लक्षणम् ॥57॥

अन्वयार्थ : या: गुणजीवादय: विंशति: प्ररुपणा: ता: कर्मसम्बन्धनिष्पन्ना: जीवस्य लक्षणं न सन्ति ।

गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणास्थान आदि बीस प्ररूपणाएँ जीव के कर्म-संबंध से उत्पन्न होनेवाले भाव हैं, वे शुद्ध जीव के लक्षण नहीं हैं ।

क्षायोपशमिक ज्ञानादि भाव शुद्धजीव का स्वरूप नहीं

क्षायोपशमिका: सन्ति भावा ज्ञानादयोऽपि ये ।

स्वरूपं तेऽपि जीवस्य विशुद्धस्य न तत्त्वत: ॥58॥

अन्वयार्थ : ये ज्ञानादय: अपि क्षायोपशमिका: भावा: ते अपि विशुद्धस्य जीवस्य तत्त्वत: स्वरूपं न सन्ति ।

जो ज्ञानादिक गुणों की क्षायोपशमिक भावरूप पर्यायें/अवस्थाएँ हैं; वे सभी निश्चयनय की अपेक्षा से शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं हैं ।

निज शुद्धात्मा के ध्यान से मुक्ति

गलित-निखिल-राग-द्वेष-मोहादि-दोष: ।

सततमिति विभक्तं चिन्तयन्नात्मतत्त्वम् ।

गतमलमविकारं ज्ञान-दृष्टि-स्वभावं ।

जनन-मरण-मुक्तं मुक्तिमाप्नोति योगी ॥59॥

अन्वयार्थ : गतमलं अविकारं जनन-मरण-मुक्तं विभक्तं ज्ञान-दृष्टि-स्वभावं इति आत्मतत्त्वं सततं चिन्तयन् गलित-निखिल-राग-द्वेष-मोहादि-दोष: योगी मुक्तिं आप्नोति ।

जो ज्ञानावरणादि कर्मरूपी मल से रहित है, रागादि विकारी भावों से शून्य है, जन्म-मरण से मुक्त है और विभक्त (पर-पदार्थों से भिन्न) ज्ञान-दर्शन स्वभावमय है - ऐसे निजात्म तत्त्व को सतत (निरंतर) ध्याता हुआ जो योगी पूर्णतः राग-द्वेष-मोह आदि दोषों से रहित हो जाता है, वह मुक्ति को प्राप्त करता है ।

अजीव द्रव्यों के नाम -

धर्माधर्म-नभ:-काल-पुद्गला: परिकीर्तिता: ।
अजीवा जीवतत्त्वज्ञैर्जीवलक्षणवर्जिता: ॥60॥

अन्वयार्थ : जीवतत्त्वज्ञैः धर्म-अधर्म-नभः-काल-पुद्गलाः जीवलक्षणवर्जिताः अजीवाः परिकीर्तिताः ।

जीव-तत्त्व के ज्ञाता (आत्मज्ञ) अरहंत, आचार्य आदि साधक जीवों ने धर्म, अधर्म, आकाश, काल एवं पुद्गल - इन पाँच द्रव्यों को जीव-द्रव्य के लक्षण से रहित होने के कारण अजीव-द्रव्य कहा है ।

अजीव द्रव्यों की स्वतंत्रता -

अवकाशं प्रयच्छन्त: प्रविशन्त: परस्परम् ।
मिलन्तश्च न मुञ्चन्ति स्व-स्वभावं कदाचन ॥61॥

अन्वयार्थ : (ते अजीवा:) परस्परं अवकाशं प्रयच्छन्त:, प्रविशन्त:, च मिलन्त: स्वस्वभावं कदाचन न मुञ्चन्ति ।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल एवं पुद्गल - ये पाँचों अजीव द्रव्य एक-दूसरे को जगह/अवगाह देते हुए और एक-दूसरे में प्रवेश करते हुए, तथा एक दूसरे में मिलते हुए भी अपने-अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ते ।

अजीव-द्रव्यों का विभाजन एवं मूर्तित्व का लक्षण -

अर्मूता निष्क्रिया: सर्वे मूर्तिन्तोऽत्र पुद्गला: ।
रूप-गन्ध-रस-स्पर्श-व्यवस्था मूर्तिरुच्यते ॥62॥

अन्वयार्थ : अत्र पुद्गलाः मूर्तिन्तः, (शेषाः) सर्वे (अजीवा:) अमूर्ताः निष्क्रियाः सन्ति । रूप-गन्ध-रस-स्पर्श-व्यवस्था मूर्तिः उच्यते ।

धर्मादि इन पाँचों अजीव द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है । शेष धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल ये चारों द्रव्य अमूर्तिक और निष्क्रिय हैं । वर्ण-गंध-रस-स्पर्श की व्यवस्था को मूर्तिक कहते हैं ।

छहों की द्रव्यसंज्ञा -

जीवेन सह पञ्चापि द्रव्याण्येते निवेदिता: ।
गुण-पर्ययवद्द्रव्यमिति लक्षण-योगत: ॥63॥

अन्वयार्थ : गुणपर्ययवद् द्रव्यम् इति लक्षणयोगत: जीवेन सह निवेदिता: एते पञ्च अपि (अजीवा:) द्रव्याणि (सन्ति) ।

जीव सहित ये पाँचों भी (अजीव द्रव्य) द्रव्य कहे गये हैं; क्योंकि ये सभी गुणपर्ययवद्द्रव्यं इस द्रव्य के लक्षण से सहित हैं ।

द्रव्य का व्युत्पत्तिपरक लक्षण और सत्तामय स्वरूप -

द्रूयते गुणपर्यायैर्यद्यद् द्रवति तानथ ।
तद् द्रव्यं भण्यते षोढा सत्तामयमनश्वरम् ॥64॥

अन्वयार्थ : अथ गुणपर्यायै: यत् द्रूयते (यत्) तान् द्रवति तत् द्रव्यं भण्यते । (तत्) षोढ़ा, सत्तामयम्, अनश्वरम् ।

जो गुण-पर्यायों के द्वारा द्रवित होता है अथवा जो उन गुण-पर्यायों को द्रवित/प्रवाहित करता है, वह द्रव्य कहा जाता है । उक्त द्रव्य जीवादि छह भेदरूप हैं, सत्तासहित हैं और अविनश्वर (कभी नष्ट न होनेवाले) हैं ।

सर्व पदार्थगत सत्ता का स्वरूप -

ध्रौव्योत्पादलयालीढा सत्ता सर्वपदार्थगा ।
एकशोऽनन्तपर्याया प्रतिपक्षसमन्विता ॥65॥
अन्वयार्थ : सत्ता ध्रौव्य-उत्पाद-लय-आलीढ़ा, एकशः सर्वपदार्थगा, अनन्तपर्याया, प्रतिपक्षसमन्विता (भवति) ।
सत्ता **अर्थ**ात् अस्तित्व ध्रौव्योत्पादव्ययात्मिका, एक से लेकर सब पदार्थों में व्यापनेवाली, अनन्त पर्यायों को धारण करनेवाली और विरुद्ध पक्ष सहित (असत्ता आदि के साथ विरोध न रखनेवाली) होती है ।

द्रव्य का उत्पाद-व्यय, पर्याय अपेक्षा से -

नश्यत्युत्पद्यते भाव: पर्यायापेक्षयाखिल: ।
नश्यत्युत्पद्यते कश्चिन्न द्रव्यापेक्षया पुन: ॥66॥
अन्वयार्थ : अखिल: भाव: पर्याय-अपेक्षया नश्यति उत्पद्यते । पुन: द्रव्य-अपेक्षया न कश्चित् नश्यति (न) उत्पद्यते ।
द्रव्य समूह को पर्याय की अपेक्षा से देखा जाय तो द्रव्य नष्ट होता है और द्रव्य ही उत्पन्न भी होता है ;परन्तु (अनादि-अनंत अविनाशी) द्रव्य की अपेक्षा से देखा जाय तो कोई भी द्रव्य न नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है ।

द्रव्य के साथ गुण-पर्यायों का अविनाभावी संबंध -

किंचित् संभवति द्रव्यं न विना गुण-पर्ययै: ।
संभवन्ति विना द्रव्यं न गुणा न च पर्यया: ॥67॥
अन्वयार्थ : किंचित् द्रव्यं गुण-पर्ययै: विना न संभवति । गुणा: च पर्यायाः द्रव्यं विना न संभवन्ति ।
कोई भी द्रव्य, गुण तथा पर्यायों के बिना नहीं हो सकता और गुण अथवा पर्यायें द्रव्य के बिना नहीं हो सकते ।

धर्मादि द्रव्यों की प्रदेश व्यवस्था -

धर्माधर्मैकजीवानां प्रदेशानामसंख्यया ।
अवष्टब्धो नभोदेश: प्रदेश: परमाणुना ॥68॥
अन्वयार्थ : परमाणुना अवष्टब्धः नभोदेशः प्रदेशः, धर्म-अधर्म-एक जीवानां प्रदेशानां (संख्या) असंख्यया ।
परमाणु से आकाश का एक प्रदेश घिरा हुआ है । धर्म, अधर्म और एक जीव, इन द्रव्यों के (इन प्रत्येक द्रव्य के) असंख्यात प्रदेशों से आकाश का स्थान अवरुद्ध (घिरा हुआ) है ।

परमाणु का लक्षण -

द्रव्यमात्मादिमध्यान्तमविभागमतीन्द्रियम् ।
अविनाश्यग्निशस्त्राद्यै: परमाणुरुदाहृतम् ॥69॥
अन्वयार्थ : आत्मा-आदि-मध्य-अन्तं, अविभागं, अतीन्द्रियं, अग्नि-शस्त्राद्यै: अविनाशि द्रव्यं परमाणु: उदाहृतम् ।
जो स्वयं आदि, मध्य और अन्तरूप है (जिसका आदि, मध्य और अन्त एक-दूसरे से भिन्न नहीं है); जिसका विभाजन खण्ड अथवा अंशविकल्प नहीं हो सकता; जो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है और जो अग्नि-शस्त्र आदि से नाश को प्राप्त नहीं हो सकता - ऐसा पुद्गलरूप द्रव्य परमाणु कहा गया है ।

आकाश एवं पुद्गल द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या -

प्रदेशा नभसोऽ नन्ता अनन्तानन्तमानका: ।
पुद्गलानां जिनैरुक्ता: परमाणुरनंशक: ॥70॥
अन्वयार्थ : जिनै: नभस: अनन्ता: पुद्गलानां अनंतानंत-मानका: प्रदेशा: उक्ताः, परमाणु: अनंशक: ।
जिनेन्द्र देव ने आकाश द्रव्य के अनंत और पुद्गल द्रव्यों के अनन्तानन्त प्रदेश कहे हैं । उसीतरह पुद्गल परमाणु को अप्रदेशी (एक प्रदेशी)

कहा है ।

कालद्रव्य की संख्या एवं उसकी व्यापकता -

असंख्या भुवनाकाशे कालस्य परमाणव: ।
एकैका व्यतिरिक्तास्ते रत्नानामिव राशय: ॥71॥
अन्वयार्थ : भुवनाकाशे कालस्य असंख्याः परमाणव: (सन्ति) ते रत्नानां राशय: इव एकैका: व्यतिरिक्ता: (भवन्ति) ।
लोकाकाश में कालद्रव्य के असंख्यात परमाणु (कालाणु) स्थित हैं । वे कालाणु रत्नराशि समान एक-एक एवं भिन्न-भिन्न (लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित) है ।

धर्म, अधर्म और पुद्गलद्रव्य की व्यापकता -

धर्माधर्मौ स्थितौ व्याप्य लोकाकाशमशेषकम् ।
व्योमैकांशादिषु ज्ञेया पुद्गलानामवस्थिति: ॥72॥
अन्वयार्थ : धर्माधर्मौ अशेषकं लोकाकाशं व्याप्य स्थितौ (स्त:) । पुद्गलानां अवस्थिति: व्यो-एक-अंशादिषु ज्ञेया ।
धर्म, अधर्म-दोनों द्रव्य संपूर्ण लोकाकाश में व्यापकर तिष्ठते हैं । पुद्गलों का अवस्थान (व्यापकता) आकाश द्रव्य के एक आदि अंश (एक प्रदेश से लेकर दो, तीन, चार आदि प्रदेश बढ़ाते हुए संपूर्ण लोकाकाश) में जानना चाहिए ।

संसारी जीवों की लोकाकाश में व्यापकता -

लोकासंख्येयभागादाववस्थानं शरीरिणाम् ।
अंशा विसर्प-संहारौ दीपानामिव कुर्वते ॥73॥
अन्वयार्थ : शरीरिणां अवस्थानं लोक-असंख्येयभागादौ (भवति) । (संसारी जीवानां) अंशा: दीपानां इव विसर्प-संहारौ कुर्वते ।
शरीरधारी संसारीजीव की व्यापकता लोकाकाश के असंख्येय भागादिकों में (लोकाकाश के असंख्यातवें भाग में) होती है । संसारी जीवों के प्रदेश शरीर के आकारानुसार दीपकों के प्रकाश के समान संकोच-विस्तार करते रहते हैं ।

धर्मादि द्रव्यों का उपकार -

जीवानां पुद्गलानां च धर्माधर्मौ गतिस्थिती ।
अवकाशं नभ: कालो वर्तनां कुरुते सदा ॥74॥
अन्वयार्थ : धर्म-अधर्मौ जीवानां पुद्गलानां गति-स्थिती, नभः अवकाशं, कालः वर्तनां सदा कुरुते ।
धर्मद्रव्य, जीव और पुद्गलों को गमन करने में सदा उपकार करता है । अधर्मद्रव्य, जीव और पुद्गलों को स्थिर रहने में सदा उपकार करता है । आकाशद्रव्य जीवादि सर्व द्रव्यों को जगह/स्थान देने में सदा उपकार करता है । कालद्रव्य जीवादि सर्व द्रव्यों को परिवर्तन करने/बदलने में सदा उपकार करता है ।

जीव का उपकार -

संसारवर्तिनोऽन्योन्यमुपकारं वितन्वते ।
मुक्तास्तद्व्यतिरेकेण न कस्याप्युपकुर्वते ॥75॥
अन्वयार्थ : संसारवर्तिन: (जीवा:) अन्योन्यं उपकारं वितन्वते । मुक्ता: (जीवा:) तद् व्यतिरेकेण कस्यापि न उपकुर्वते ।
संसारवर्ती/राग-द्वेष विकारों से अथवा आठ कर्मों से सहित जीव परस्पर एक-दूसरे का उपकार करते हैं (सुख-दुख, जीवन-मरण आदि में परस्पर निमित्त होते हैं) । मुक्त (सिद्ध) जीव संसार से भिन्न होने के कारण किसी का भी उपकार नहीं करते हैं ।

पुद्गल का उपकार -

जीवितं मरणं सौख्यं दु:खं कुर्वन्ति पुद्गला: ।
उपकारेण जीवानां भ्रतां भवकानने ॥76॥

अन्वयार्थ : पुद्गला: भवकानने भ्रतां जीवानाम् उपकारेण जीवितं, मरणं, सौख्यं, दु:खं कुर्वन्ति ।

संसाररूपी वन में भ्रमण करनेवाले जीवों पर पुद्गल अपने निमित्त से जीवन, मरण, सुख तथा दुःखरूप उपकार करते हैं (जीवों के इन कार्यरूप परिणमन में पुद्गल निमित्त होते हैं) ।

कोई किसी का कभी कोई कार्य करता ही नहीं -

पदार्थानां निमग्नानां स्वरूपं परमार्थत: ।
करोति कोऽपि कस्यापि न किंचन कदाचन ॥77॥

अन्वयार्थ : परमार्थत: स्वरूपं निमग्नानां पदार्थानां क: अपि कस्य अपि कदाचन किंचन (अपि) न करोति ।

सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में मग्न/लीन हैं; इसकारण निश्चयनय से कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का कुछ भी कार्य कभी भी नहीं कर सकता ।

पुद्गल के चार भेद और उनका स्वरूप -

स्कन्धो देश: प्रदेशोऽणुश्चतुर्धा पुद्गलो मत: ।
समस्तमर्धर्धार्धविभागमिमं विदु: ॥78॥

अन्वयार्थ : स्कन्ध:, देश:, प्रदेश:, अणु: (इति) पुद्गल: चतुर्धा मत: । इमं समस्तम् अर्ध् अर्धार्ध् अविभागं (च) विदु: ।

पुद्गलद्रव्य स्कन्ध, देश, प्रदेश और अणु इसतरह चार प्रकार का माना गया है । इस चतुर्विध समस्त पुद्गल को क्रमशः सकल, अर्ध, अर्धार्ध और अविभागी कहते हैं ।

पुद्गलों से लोक भरा है -

सूक्ष्मै: सूक्ष्मतरैर्लोक: स्थूलै: स्थूलतरैश्चित: ।
अनन्तै: पुद्गलैश्चित्रै: कुम्भो धूमैरिवाभित: ॥79॥

अन्वयार्थ : धूमै: कुम्भः इव लोकः अभित: सूक्ष्मै: सूक्ष्मतरै: स्थूलै: स्थूलतरै: अनन्तै: चित्रै: पुद्गलै: चित: (अस्ति) ।

धूम से ठसाठस भरे हुए घट के समान लोकाकाश सर्व ओर से अनेक प्रकार के सूक्ष्म-सूक्ष्मतर, स्थूल-स्थूलतर अनन्त पुद्गलों से ठसाठस भरा हुआ है ।

द्रव्य के दो भेद और उनका लक्षण -

मूर्तामूर्तं द्विधा द्रव्यं मूर्तामूर्तैर्गुणैर्युतम् ।
अक्षग्राह्या गुणा मूर्ता अमूर्ता सन्त्यतीन्द्रिया: ॥80॥

अन्वयार्थ : मूर्त-अमूर्तैः गुणैः युतं द्रव्यं मूर्त-अमूर्तं द्विधा (भवति), अक्षग्राह्याः गुणाः मूर्ताः, अतीन्द्रियाः अमूर्ताः सन्ति ।

द्रव्य मूर्तिक और अमूर्तिक दो प्रकार के हैं - जो द्रव्य मूर्त गुणों से सहित है, वे मूर्तिक द्रव्य हैं और जो द्रव्य अमूर्त गुणों से सहित है, वे अमूर्तिक द्रव्य हैं । जो गुण इन्द्रियों से जानने में आते हैं, वे मूर्त गुण हैं और जो गुण इन्द्रियों से जानने में नहीं आते वे अमूर्त गुण हैं ।

पुद्गल स्वयं ही कर्मभावरूप परिणमते हैं -

कर्म-वेदयमानस्य भावा: सन्ति शुभाशुभा: ।
कर्मभावं प्रपद्यन्ते संसक्तास्तेषु पुद्गला: ॥81॥

अन्वयार्थ : कर्म-वेदयमानस्य (जीवस्य) शुभाशुभा: भावा: सन्ति; तेषु संसक्ता: पुद्गला: कर्मभावं प्रपद्यन्ते ।

कर्म के फल को भोगनेवाले जीव के शुभ-अशुभरूप परिणाम होते हैं । उन भावों (परिणामों) के होने पर उनसे संबंधित पुद्गल (कार्माण

वर्गणाएँ ज्ञानावरणादि) द्रव्यकर्मरूप परिणमती हैं ।

कर्म के आस्रव एवं बन्ध में निमित्त का निर्देश -

योगेन ये समायान्ति शस्ताशस्तेन पुद्गला: ।
तेऽष्टकर्मत्वमिच्छन्ति कषाय-परिणामत: ॥82॥

अन्वयार्थ : शस्त-अशस्तेन योगेन ये पुद्गला: (आत्म-प्रदेशेषु) समायान्ति, ते (पुद्गला:) कषाय-परिणामत: अष्ट-कर्मत्वं इच्छन्ति ।
मन-वचन-काय के शुभ अथवा अशुभ योग के निमित्त से जो पुद्गल आत्म-प्रदेशों में प्रवेश करते हैं, वे ही पुद्गल (कार्माणवर्गणाएँ मोह-राग-द्वेषादि) कषाय परिणामों के निमित्त से ज्ञानावरणादि अष्टकर्मरूप परिणमती हैं ।

प्रकृतिबन्ध के भेद -

ज्ञानदृष्ट्यावृती वेद्यं मोहनीयायुषी विदु: ।
नाम गोत्रान्तरायौ च कर्माण्यष्टेति सूरय: ॥83॥

अन्वयार्थ : ज्ञान-दृष्ट्यावृती वेद्यं मोहनीय-आयुषी नाम च गोत्र-अन्तरायौ इति अष्टकर्माणि सूरयः विदु: ।
ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इसप्रकार आचार्यों ने प्रकृतिबंध के आठ भेद बताये हैं ।

जीव अपने विकारी भावों का कर्ता और पुद्गल कर्म का अकर्ता -

कल्मषोदयत: भावो यो जीवस्य प्रजायते ।
स कर्ता तस्य भावस्य कर्मणो न कदाचन ॥84॥

अन्वयार्थ : कल्मष-उदयत: जीवस्य य: भाव: प्रजायते तस्य भावस्य स: (जीव:) कर्ता (भवति), कर्मण: (कर्ता) कदाचन न (भवति) ।
मिथ्यात्वादि पापकर्म के उदय से जीव में जो मोह राग-द्वेषरूप विकारी परिणाम उत्पन्न होते हैं, उन भावों का वह जीव कर्ता होता है; परन्तु ज्ञानावरणादि पुद्गलमय द्रव्यकर्म का कर्ता वह जीव कभी भी नहीं होता ।

कर्मों की विभिन्नता पुद्गलकृत हैं -

विविधा: पुद्गला: स्कन्धा: संपद्यन्ते यथा स्वयम् ।
कर्मणामपि निष्पत्तिरपरैरकृता तथा ॥85॥

अन्वयार्थ : यथा विविधा: पुद्गला: स्वयं स्कन्धा: संपद्यन्ते तथा (एव) कर्मणां अपि निष्पत्ति: अपरै: अकृता (भवति) ।
जिसप्रकार पुद्गल स्वयं अनेक प्रकार के स्कन्धरूप बन जाते हैं, उसीप्रकार अनेक प्रकार के कर्मों की निष्पत्ति भी दूसरों के द्वारा किये बिना ही (स्वतः ही) होती है ।

जीव और कर्म की स्वतंत्रता -

कर्मभावं प्रपद्यन्ते न कदाचन चेतना: ।
कर्म चैतन्यभावं वा स्वस्वभावव्यवस्थिते: ॥86॥

अन्वयार्थ : स्व-स्वभाव-व्यवस्थिते: चेतना: कदाचन कर्मभावं न प्रपद्यन्ते वा कर्म (अपि तथा एव) चैतन्यभावं (न प्रपद्यते)।
अपने-अपने स्वभाव में सदा व्यवस्थित/स्थिर/एकरूप रहने के कारण जीव कभी भी कर्मपने को प्राप्त नहीं होते । अपने-अपने स्वभाव में सदा व्यवस्थित रहने के कारण कर्म कभी भी जीवपने को प्राप्त नहीं होते ।

जीव, स्वभाव से कर्मों को करे तो आपत्ति -

जीव: करोति कर्माणि यद्युपादानभावत: ।
चेतनत्वं तदा नूनं कर्मणो वार्यते कथम् ॥87॥

अन्वयार्थ : यदि जीव: उपादानभावत: कर्माणि करोति तदा कर्मण: चेतनत्वं नूनं कथं वार्यते?
यदि जीव अपने उपादान भाव (निजशक्ति) से पुद्गलमय ज्ञानावरणादि आठों कर्मों को करेगा, तब कर्म के चेतनपने का निषेध निश्चय से कैसे किया जा सकता है ?

कर्म, स्वभाव से जीव को करे तो आपत्ति -

यद्युपादानभावेन विधत्ते कर्म चेतनम् ।
अचेतनत्वमेतस्य तदा केन निषिध्यते ॥88॥

अन्वयार्थ : यदि कर्म उपादान-भावेन चेतनं विधत्ते तदा एतस्य (चेतन-जीवस्य) अचेतनत्वं केन निषिध्यते ?
यदि कर्म अपने उपादानभाव (अन्तरंग शक्ति) से चेतन (जीव) का निर्माण करता है तो इस चेतनरूप जीव के अचेतनपने (जडपने) के प्रसंग का निषेध कैसे किया जा सकता है ?

दोनों को परस्पर का कर्ता मानने से आपत्ति -

एवं संपद्यते दोष: सर्वथापि दुरुत्तर: ।
चेतनाचेतनद्रव्यविशेषाभावलक्षण: ॥89॥

अन्वयार्थ : एवं (उपर्युक्तकथनानुसारं) चेतन-अचेतन-द्रव्यविशेष-अभावलक्षण: दोष: अपि संपद्यते (य:) सर्वथा दुरुत्तर: (अस्ति) ।
इसप्रकार (चेतन को अचेतन का और अचेतन को चेतन का उपादान कारण मानने से) चेतन और अचेतन द्रव्य में कोई भेद न रहनेरूप दोष उपस्थित होता है, जो किसी तरह भी टाला नहीं जा सकता ।

कर्म एवं जीव के विभाव में परस्पर निमित्तपना -

सरागं जीवमाश्रित्य कर्मत्वं यान्ति पुद्गला: ।
कर्माण्याश्रित्य जीवोऽपि सरागत्वं प्रपद्यते ॥90॥

अन्वयार्थ : पुद्गला: सरागं जीवं आश्रित्य कर्मत्वं यान्ति (तथा एव) जीव: अपि कर्माणि आश्रित्य सरागत्वं प्रपद्यते ।
पुद्गल (कार्माणवर्गणायें) सरागी जीव का निमित्त पाकर कर्मपने को प्राप्त होती हैं और जीव भी कर्मों का निमित्त पाकर विभावभावरूप परिणाम को प्राप्त होता है ।

जीव मोहादि परिणामों का अकर्ता -

कर्म चेत्कुरुते भावो जीव: कर्ता तदा कथम् ।
न किंचित् कुरुते जीवो हित्वा भावं निजं परम् ॥91॥

अन्वयार्थ : चेत् (रागादि) भावः कर्म कुरूते, तदा जीवः (कर्मणः) कर्ता कथं (भवति) जीवः निजभावं हित्वा किंचित् परं न कुरूते ।
यदि यह बात मान ली जाय कि मोह-राग-द्वेषादि विकारी (विभाव) परिणाम ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म का कर्ता (निर्माता) है, तो जीव ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का कर्ता कैसे हो सकता है? क्योंकि जीव तो अपने ज्ञान-दर्शन आदि निज परिणामों को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं करता ।

द्रव्यकर्म और भावकर्म में परस्पर निमित्तनैमित्तिकपना -

कर्मतो जायते भावो भावत: कर्म सर्वदा ।
इत्थं कर्तृत्वमन्योन्यं द्रष्टव्यं भाव-कर्मणो: ॥92॥

अन्वयार्थ : कर्मत: भाव: जायते भावत: सर्वदा कर्म (जायते)। इत्थं भाव-कर्मणो: अन्योन्यं कर्तृत्वं द्रष्टव्यम् ।
मोहनीय नामक द्रव्यकर्म के उदय के निमित्त से मोह-राग-द्वेष आदि जीव के विकारी परिणाम सदा उत्पन्न होते हैं और मोह-राग-द्वेष आदि जीव के विकारी परिणामों के निमित्त से सदा ज्ञानावरणादि आठ अथवा एक सौ अडतालीस प्रकृतिरूप द्रव्यकर्म उत्पन्न होते हैं । इसतरह

द्रव्यकर्म और भावकर्म में परस्पर निमित्त-नैमित्तिकपना जानना चाहिए ।

ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म को जीवकृत कहा जाता है -

कोपादिभि: कृतं कर्म जीवेन कृतमुच्यते ।
पदातिभिर्जितं युद्धं जितं भूपतिना यथा ॥93॥

अन्वयार्थ : यथा पदातिभि: जितं युद्धं भूपतिना जितं (उच्यते तथा एव) कोपादिभि: कृतं कर्म जीवेन कृतं उच्यते ।

जिसप्रकार योद्धाओं के द्वारा जीता गया युद्ध राजा के द्वारा जीता गया, ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है, उसीप्रकार क्रोधादि कषायभावों के द्वारा (मोह-राग-द्वेष आदि विभावभावों से) किया गया कर्म जीव के द्वारा किया गया, ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है ।

कर्मजनित देहादिक विभाव अचेतन हैं -

देह-संहति-संस्थान-गति-जाति-पुरोगमा: ।
विकारा: कर्मजा: सर्वे चैतन्येन विवर्जिता: ॥94॥

अन्वयार्थ : देह-संहति-संस्थान-गति-जाति-पुरोगमा: सर्वे विकारा: कर्मजा: चैतन्येन विवर्जिता: ।

संसारी जीव के संयोग में पाये जानेवाले शरीर, संहनन, संस्थान, गति, जाति आदिरूप (पुरोगमा शब्द का **अर्थ** इत्यादि होता है) जितने भी विकार (विभाव) हैं, वे सर्व नामकर्म के निमित्त से उत्पन्न हुए हैं एवं चेतना रहित हैं ।

गुणस्थान पुद्गल-निर्मित है -

मिथ्यादृक् सासनो मिश्रोऽसंयतो देशसंयत: ।
प्रमत्त इतरोऽपूर्वस्तत्त्वज्ञैरनिवृत्तक: ॥95॥
सूक्ष्म: शान्त: पर: क्षीणो योगी चेति त्रयोदश ।
गुणा: पौद्गलिका: प्रोक्ता: कर्मप्रकृतिनिर्मिता: ॥96॥

अन्वयार्थ : तत्त्वज्ञै: मिथ्यादृक्, सासन:, मिश्र:, असंयत:, देशसंयत:, प्रमत्त:, इतर:, अपूर्व:, अनिवृत्तक:, सूक्ष्म:, शान्त:, पर:क्षीण:, योगी च इति त्रयोदश: गुणा: पौद्गलिका: कर्मप्रकृतिनिर्मिता: प्रोक्ता: ।

तत्त्वज्ञानियों ने मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र, असंयतसम्यक्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली - इन तेरह गुणस्थानों को कर्मप्रकृतियों से निर्मित पौद्गलिक कहा है ।

गुणस्थान संबंधी विभिन्न मान्यता -

देहचेतनयोरैक्यं मन्यमानैर्विमोहितैः ।
एते जीवा निगद्यन्ते न विवेक-विशारदै: ॥97॥

अन्वयार्थ : देहचेतनयो: ऐक्यं मन्यमानै: विमोहितै: एते (त्रयोदश-गुणा:) जीवा: निगद्यन्ते; न विवेक-विशारदै: ।

शरीर और आत्मा इन दोनों को एक माननेवाले मोहीजन गुणस्थानों को जीव कहते हैं (मानते हैं); परन्तु भेदविज्ञान में निपुण विवेकी जन गुणस्थानों को पुद्गलरूप अजीव बतलाते हैं ।

प्रमत्तादि गुणस्थानों की वंदना से चेतन मुनि वन्दित नहीं -

प्रमत्तादिगुणस्थानवन्दना या विधीयते ।
न तया वन्दिता सन्ति मुनयश्चेतनात्मका: ॥98॥

अन्वयार्थ : या प्रमत्तादि-गुणस्थान-वन्दना विधीयते तया चेतनात्मका: मुनय: न वन्दिता: सन्ति ।

प्रमत्त-अप्रमत्तादि गुणस्थानों से लेकर अयोग केवली पर्यंत गुणस्थानों में विराजमान गुरु तथा परमगुरुओं की स्तुति गुणस्थान द्वारा करने पर भी चेतनात्मक महामुनीश्वरों की वास्तविक स्तुति नहीं होती (केवल जड़ की ही स्तुति होती है ।)

प्रमत्तादि गुणस्थानों की वंदना मात्र पुण्यबंध का कारण -

परं शुभोपयोगाय जायमाना शरीरिणाम् ।
ददाति विविधं पुण्यं संसारसुखकारणम् ॥99॥

अन्वयार्थ : परं शुभोपयोगाय जायमाना (प्रमत्तादि-गुणस्थान-वन्दना) शरीरिणां संसारसुखकारणं विविधं पुण्यं ददाति ।

परन्तु वह प्रमत्तादि गुणस्थानों की, की गई वंदना उत्कृष्ट शुभोपयोग के लिये निमित्तरूप होती हुई संसारस्थित जीवों को अनेक प्रकार का सर्वोत्तम पुण्य प्रदान करती है, जो उत्कृष्ट संसार सुखों का कारण होती है ।

देह की स्तुति से आत्मा की स्तुति नहीं होती -

नाचेतने स्तुते देहे स्तुतोऽस्ति ज्ञानलक्षण: ।
न कोशे वर्णिते नूनं सायकस्यास्ति वर्णना ॥100॥

अन्वयार्थ : अचेतने देहे स्तुते ज्ञानलक्षण: (जीव:) स्तुत: न अस्ति यथा कोशे वर्णिते नूनं सायकस्य वर्णना न अस्ति ।

अचेतन देह की स्तुति करने पर जीव की स्तुति नहीं होती; क्योंकि म्यान के सौंदर्य का वर्णन करने से म्यान के भीतर रहनेवाली तलवार का वर्णन नहीं होता ।

लक्षण ही भेदज्ञान का सच्चा साधन -

यत्र प्रतीयमानेऽपि न यो जातु प्रतीयते ।
स तत: सर्वथा भिन्नो रसाद् रूपमिव स्फुट् ॥101॥
काये प्रतीयमानेऽपि चेतनो न प्रतीयते ।
यतस्ततस्ततो भिन्नो न भिन्नो ज्ञानलक्षणात् ॥102॥

अन्वयार्थ : य: यत्र प्रतीयमानेअपि न जातु प्रतीयते स: तत: स्फुटं सर्वथा भिन्न: (भवति) रसात् रूपम् इव । यत: काये प्रतीयमाने अपि चेतन: न प्रतीयते तत: (चेतन:) तत: (कायात्) भिन्न: (अस्ति) । (चेतन:) ज्ञान-लक्षणात् भिन्न: न (अस्ति) ।

जो जिसमें प्रतीयमान होनेपर भी उसमें वह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, वह जिसमें प्रतीयमान हो रहा है, उससे सर्वथा भिन्न होता है; जैसे रस से रूप भिन्न होता है । चूँकि देह में चेतन प्रतीयमान होनेपर भी चेतन कभी देह में स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, इसलिए वह चेतन देह से भिन्न है; परंतु अपने ज्ञान-लक्षण से कभी भी भिन्न नहीं होता ।

इंद्रिय गोचर सब पुद्गल हैं -

दृश्यते ज्ञायते किंचिद् यदक्षैरनुभूयते ।
तत्सर्वात्मनो बाह्यं विनश्वरमचेतनम् ॥103॥

अन्वयार्थ : अक्षै: यत् किंचित् दृश्यते ज्ञायते अनुभूयते तत् सर्वं आत्मन: बाह्यं विनश्वरं अचेतनं (भवति) ।

इन्द्रियों से जो कुछ भी देखा जाता है, जाना जाता है और अनुभव किया जाता है; वह सर्व आत्मा से बाह्य, नाशवान तथा अचेतन है ।

रूप का पौद्गलिक स्वरूप -

न निर्वृतिं गतस्यास्ति तद्रूपं किंचिदात्मन: ।
अचेतनमिदं प्रोक्तं सर्वं पौद्गलिकं जिनै: ॥104॥

अन्वयार्थ : (अक्षै: यत् दृश्यते ज्ञायते अनुभूयते) तत् किंचित् (अपि) रूपं निर्वृतिं गतस्य आत्मन: न अस्ति । जिनैः इदं सर्वं (रूपं) अचेतनं पौद्गलिकं प्रोक्तं ।

जो इंद्रियों से देखा जाता है, जाना जाता है, और अनुभव में लिया जाता है वह सभी रूप (मूर्तिकपना) मोक्ष-प्राप्त आत्मा में नहीं है; क्योंकि रूप को जिनेन्द्रदेव ने पुद्गलात्मक एवं अचेतन कहा है ।

रागादि भाव कर्मजनित हैं -

विकारा: सन्ति ये केचिद्राग-द्वेष-मदादय: ।
कर्मजास्तेऽखिला ज्ञेयास्तिग्मांशोरिव मेघजा: ॥105॥

अन्वयार्थ : मेघजा: तिग्म-अंशो: इव (जीवस्य) केचित् राग-द्वेष-मोहादय: विकारा: सन्ति; ते अखिला: कर्मजा: ज्ञेया: ।
मेघ के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले सूर्य के विकार के समान जीव के राग, द्वेष, मद आदि जो कुछ भी विकार (विभाव) भाव हैं, वे सब कर्मजनित हैं; ऐसा जानना चाहिए ।

जीव, जीवरूप ही रहता है -

अनादावपि सम्बन्धे जीवस्य सह कर्मणा ।
न जीवो याति कर्मत्वं जीवत्वं कर्म वा स्फुट् ॥106॥

अन्वयार्थ : कर्मणा सह जीवस्य अनादौ सम्बन्धे अपि न जीव: कर्मत्वं याति न वा कर्म जीवत्वं (याति एतत्) स्फुट् (अस्ति) ।
कर्म के साथ जीव का अनादिकालीन सम्बन्ध होनेपर भी न तो कभी जीव कर्मपने को प्राप्त होता है न कर्म भी कभी जीवपने को प्राप्त होता है (जीव कभी कर्मरूप परिणमित नहीं होता और कर्म भी कभी जीवरूप परिणमित नहीं होता है) यह स्पष्ट ही है ।

आत्मा को द्रव्यकर्म का कर्ता मानने पर दोषापत्ति -

आत्मना कुरुते कर्म यद्यात्मा निश्चितं तदा ।
कथं तस्य फलं भुन्कते स दत्ते कर्म वा कथम् ॥107॥

अन्वयार्थ : यदि निश्चितं आत्मा आत्मना कर्म कुरुते तदा स: तस्य (कर्मण:) फलं कथं भुन्कते वा कर्म कथं (फलं) दत्ते ?
यदि यह निश्चितरूप से माना जाय कि आत्मा आत्मा के द्वारा (अपने ही उपादान से) कर्म को करता है तो फिर वह उस कर्म के फल को कैसे भोगता है? और वह कर्म आत्मा को फल कैसे देता है?

कर्म-निमित्तक औदयिकादि सब भाव अचेतन -

कर्मणामुदयसंभवा गुणा: शामिका: क्षयशमोद्भवाश्च ये ।
चित्रशास्त्रनिवहेन वर्णितास्ते भवन्ति निखिला विचेतना: ॥108॥

अन्वयार्थ : ये गुणा: (भावा:) कर्मणां-उदय-संभवा:, शामिका:, च क्षयशम:-उद्भवा: (सन्ति) ते अखिला: चित्र-शास्त्र-निवहेन विचेतना: वर्णिता: भवन्ति ।
जो गुण (भाव), कर्मों के उदय से उत्पन्न होने के कारण औदयिक हैं, कर्मों के उपशमजन्य होने से औपशमिक हैं तथा कर्मों के क्षयोपशम से प्रादुर्भूत होने के कारण क्षायोपशमिक हैं, वे सब भाव विविध शास्त्र-समूह द्वारा चेतना विरहित (अचेतन) वर्णित हैं (अनेक शास्त्रों में उन्हें अचेतन कहा है) ।

अजीव तत्त्व जानने की अनिवार्यता -

अजीवतत्त्वं न विदन्ति सम्यक् ये जीवतत्त्वाद्विधिना विभक्तम् ।
चारित्रवन्तोऽपि न ते लभन्ते विविक्तमात्मानमपास्तदोषम् ॥109॥

अन्वयार्थ : ये अजीवतत्त्वं जीवतत्त्वात् विधिना विभक्तं सम्यक् न विदन्ति ते चारित्रवन्त: अपि अपास्त-दोषं विविक्तं आत्मानं न लभन्ते ।
जो लोग जीवतत्त्व से भिन्नरूप अजीवतत्त्व को शास्त्रोक्त रीति से/यथार्थरूप से नहीं जानते, वे जिनेंद्र-कथित व्यवहारचारित्र के पालन से चारित्रवन्त होते हुए भी विविक्त (अनादि से पवित्र और सर्वथा निर्दोष) निज-तत्त्व को प्राप्त नहीं होते ।

आस्रव का सामान्य कारण -

शुभाशुभोपयोगेन वासिता योग-वृत्तय: ।

सामान्येन प्रजायन्ते दुरितास्रव-हेतव: ॥110॥

अन्वयार्थ : शुभ-अशुभ-उपयोगेन वासिता: योग-वृत्तय: सामान्येन दुरितास्रव-हेतव: प्रजायन्ते ।

शुभ तथा अशुभ उपयोग से रंजित (शुभाशुभभावों में लगे हुए) ज्ञान-दर्शन परिणाम से रंजित जो मन-वचन-कायरूप योगों की प्रवृत्तियाँ हैं, वे सामान्य से पापरूप (पुण्य-पाप) कर्मों के आस्रव का कारण होती हैं ।

आस्रव के विशेष कारण -

मिथ्यादृक्त्वमचारित्रं कषायो योग इत्यमी ।

चत्वार: प्रत्यया: सन्ति विशेषेणाघसंग्रहे ॥111॥

अन्वयार्थ : मिथ्यादृक्त्वं, अचारित्रं, कषाय: (च) योग: इति अमी चत्वार: विशेषेण अघसंग्रहे प्रत्यया: सन्ति ।

मिथ्यादर्शन, असंयम, कषाय और योग - ये चार परिणाम पाप के आस्रव में विशेषरूप से कारण हैं ।

मिथ्यात्व वृद्धि का कारण -

सचित्ताचित्तयोर्यावद्द्रव्ययो: परयोरयम् ।

आत्मीयत्व-मतिं धत्ते तावन्मोहो विवर्धते ॥112॥

अन्वयार्थ : यावत् अयं (जीव:) सचित्त-अचित्तयो: परयो: द्रव्ययो: आत्मीयत्व-मतिं धत्ते तावत् मोह: विवर्धते ।

जब तक यह जीव चेतन-अचेतनरूप पर-पदार्थों में निजत्वबुद्धि/अपनेपन की बुद्धि रखता है (पर पदार्थों को अपना समझता है), तब तक इस जीव का मोह (मिथ्यात्व) बढ़ता रहता है ।

मिथ्यात्वरूप पाप का फल -

तेषु प्रवर्तमानस्य कर्मणामास्रव: पर: ।

कर्मास्रव-निमग्नस्य नोत्तारो जायते तत: ॥113॥

अन्वयार्थ : तेषु (सचित्त-अचित्त-परद्रव्येषु) प्रवर्तमानस्य (जीवस्य) कर्मणाम् पर: आस्रव: (जायते) । तत: कर्मास्रव-निमग्नस्य (जीवस्य) उत्तार: न जायते ।

चेतन-अचेतनरूप पर-पदार्थों में अपनेपन की बुद्धि से प्रवृत्ति को प्राप्त जीव को कर्मों का महा आस्रव होता है । इसलिए जो कर्मों के महा आस्रवों में डूबा रहता है, उस जीव का संसार से उद्धार नहीं हो सकता ।

मिथ्यात्व-रक्षक परिणाम -

मयीदं कार्मणं द्रव्यं कारणेऽत्र भवाम्यहम् ।

यावदेषा मतिस्तावन्मिथ्यात्वं न निवर्तते ॥114॥

अन्वयार्थ : इदं कार्मणं द्रव्यं मयि (अस्ति) । अत्र कारणे अहं (निमित्त:) भवामि । (इत्थं) यावत् (जीवस्य) एषा मति: (भवति) तावत् मिथ्यात्वं न निवर्तते ।

कर्मजनित ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, मोह-राग-द्वेषादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्मरूप पदार्थसमूह मुझ में है, इन द्रव्यकर्मादिक का कारण मैं हूँ; यह बुद्धि जबतक जीव की बनी रहती है, तबतक मिथ्यात्व नहीं छूटता ।

मिथ्यात्व-पोषक परिणाम -

आसमस्मि भविष्यामि स्वामी देहादि-वस्तुनः ।

मिथ्या-दृष्टेरियं बुद्धिः कर्मागमन-कारिणी ॥115॥

अन्वयार्थ : (अहं) देहादि-वस्तुन: स्वामी आसम्, अस्मि, भविष्यामि - मिथ्यादृष्टे: इयं बुद्धि: कर्मागमन-कारिणी (भवति) ।

'ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, मोह-राग-द्वेषादि भावकर्म एवं शरीरादि नोकर्मरूप वस्तुओं का पहले **अर्थ**ात् भूतकाल में मैं स्वामी था, इन

वस्तुओं का वर्तमानकाल में मैं स्वामी हूँ और आगे भविष्यकाल में मैं स्वामी होऊँगा'; मिथ्यादृष्टि की यह बुद्धि कर्मों का आस्रव करानेवाली है ।

मिथ्यात्व ही आस्रव का प्रमुख कारण -

चेतनेऽ चेतने द्रव्ये यावदन्यत्र वर्तते ।
स्वकीयबुद्धितस्तावत्कर्मागच्छन् न वार्यते ॥116॥

अन्वयार्थ : यावत् (अज्ञानी जीव:) चेतने अचेतने द्रव्ये स्वकीयबुद्धित: वर्तते तावत् कर्म-आगच्छन् न वार्यते ।

जब तक (अज्ञानी **अर्थ**ात् मिथ्यादृष्टि जीव) चेतन अथवा अचेतन (किसी भी परद्रव्य) में अपनेपन की बुद्धि से प्रवृत्ति करता है (पर में अपनत्व की मान्यता रखता है) तबतक अष्ट कर्मों के आस्रव को रोका नहीं जा सकता ।

नय-सापेक्ष आत्मा का कर्तापना -

शुभाशुभस्य भावस्य कर्तात्मीयस्य वस्तुत: ।
कर्तात्मा पुनरन्यस्य भावस्य व्यवहारत: ॥117॥

अन्वयार्थ : आत्मा वस्तुत: आत्मीयस्य शुभ-अशुभस्य भावस्य कर्ता (अस्ति)। पुन: आस्रव अधिकार व्यवहारत: अन्यस्य भावस्य कर्ता (अस्ति) ।

आत्मा निश्चय से अपने शुभ तथा अशुभ भाव / परिणाम का कर्ता है और व्यवहार से पर द्रव्य के भाव का कर्ता है ।

जीव-परिणाम व कर्मोदय में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध -

श्रित्वा जीव-परीणामं कर्मास्रवति दारुणम् ।
श्रित्वोदेति परीणामो दारुण: कर्म दारुणम् ॥118॥

अन्वयार्थ : जीव-परीणामं श्रित्वा दारुणं कर्म आस्रवति, (च) दारुणं कर्म श्रित्वा दारुण: परीणाम: उदेति ।

जीव के परिणामों का आश्रय करके अत्यंत भयंकर (अतिदुःखद) कर्म आस्रव को प्राप्त होते हैं और अत्यंत भयंकर दुःखद कर्मों के उदय का आश्रय करके जीव के भी अत्यंत दुःखद परिणाम उदित होते हैं ।

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मात्र दो पर्यायों में होता है -

कार्य-कारण-भावोऽयं परिणामस्य कर्मणा ।
कर्म-चेतनयोरेष विद्यते न कदाचन ॥119॥

अन्वयार्थ : (पूर्वोक्तम्) अयं परिणामस्य कार्य-कारण-भाव: (जीवस्य) कर्मणा (सह विद्यते) । एष: (कार्य-कारण-भाव:) कर्म-चेतनयो: कदाचन न विद्यते ।

संसारी जीव के मोह-राग-द्वेषादि परिणामों के साथ ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध विद्यमान है; परंतु कार्माणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्य का अनादि-निधन / त्रिकाली चेतन स्वभाव के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है ।

कर्म को जीव का कर्ता मानने पर आपत्ति -

आत्मानं कुरुते कर्म यदि कर्म तदा कथम् ।
चेतनाय फलं दत्ते भुक्ते वा चेतन: कथम् ॥120॥

अन्वयार्थ : यदि कर्म आत्मानं कुरुते तदा कर्म चेतनाय फलं कथं दत्ते ? वा चेतन: (कर्म-फलं) कथं भुक्ते ?

यदि कर्म (अपने उपादान से) स्वयं को करता है तो फिर कर्म, चेतन-आत्माको फल कैसे देता है? और चेतनात्मा उस फल को कैसे भोगता है? - ये दोनों बातें फिर बनती ही नहीं ।

एक के किये हुए कर्म के फल को दूसरे के द्वारा भोगने पर आपत्ति -

परेण विहितं कर्म परेण यदि भुज्यते ।
न कोऽपि सुख-दु:खेभ्यस्तदानीं मुच्यते कथम् ॥121॥

अन्वयार्थ : परेण (जीवेन) विहितं कर्म यदि परेण (जीवेन) भुज्यते, तदानीं कोऽपि (जीव:) सुख-दु:खेभ्य: कथं मुच्यते ? (न मुच्यते) ।

परजीव के किये हुए कर्म को (कर्म के फल को) यदि दूसरा जीव भोगता है तो फिर कोई भी जीव सुख-दुःख से (संसार से) कैसे मुक्त हो सकता है? (कोई भी जीव संसार से मुक्त नहीं हो सकता । अतः प्रत्येक जीव अपने किये हुए कर्म-फल का ही भोक्ता है; यह परम सत्य है ।)

कर्म में जीव के स्वभाव का आच्छादन करने का उदाहरण -

जीवस्याच्छादकं कर्म निर्मलस्य मलीमसम् ।
जायते भास्करस्येव शुद्धस्य घन-मण्डलम् ॥122॥

अन्वयार्थ : शुद्धस्य भास्करस्य घन-मण्डलं इव मलीमसं कर्म निर्मलस्य जीवस्य आच्छादकं जायते ।

जिसप्रकार घनमण्डल (बादलों का समूह) निर्मल सूर्य का आच्छादक हो जाता है, उसीप्रकार से निर्मल जीव के स्वभाव का, स्वभाव से मलीन कर्म आच्छादक होता है ।

मिथ्यात्वादि कषाय ही आस्रव-बन्ध का कारण -

कषायस्रोतसागत्य जीवे कर्मावतिष्ठते ।
आगमेनेव पानीयं जाड्य-कारं सरोवरे ॥123॥

अन्वयार्थ : सरोवरे (स्रोतसा) जाड्यकारं पानीयं आगमेन इव कषाय-स्रोतसा (जाड्यकारं) कर्म आगत्य जीवे अवतिष्ठते ।

जिसप्रकार सरोवर में स्रोतरूप नाली के द्वारा आकर शीतकारक जल ठहरता (रुकता) है, उसीप्रकार जीव में कषाय स्रोत से आकर जडता-कारक कर्म ठहरता (रुकता) है (बन्ध को प्राप्त होता है) ।

कषाय रहित जीव के साम्परायिक आस्रव मानने पर आपत्ति -

जीवस्य निष्कषायस्य यद्यागच्छति कल्मषम् ।
तदा संपद्यते मुक्तिर्न कस्यापि कदाचन ॥124॥

अन्वयार्थ : यदि निष्कषायस्य जीवस्य कल्मषं आगच्छति तदा कस्य अपि (जीवस्य) कदाचन मुक्ति: न संपद्यते ।

यदि कषायरहित जीव के भी मोहरूप पाप कर्मों का आस्रव होता है, यह बात मान ली जाय तो फिर किसी भी जीव को कभी मोक्ष हो ही नहीं सकता ।

प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतंत्र -

नान्यद्रव्य- परीणाममन्य- द्रव्यं प्रपद्यते ।
स्वान्य-द्रव्य-व्यवस्थेयं परस्य घटते कथम् ॥125॥

अन्वयार्थ : अन्य-द्रव्य-परीणामं अन्य-द्रव्यं न प्रपद्यते, (अन्यथा) इयं स्व-अन्य-द्रव्य-व्यवस्था परस्य (था) कथं घटते ?

अन्य द्रव्य का परिणाम अन्य द्रव्य को प्राप्त नहीं होता (एक द्रव्य का परिणमन दूसरे द्रव्य के परिणमनरूप कभी नहीं होता), यदि ऐसा न माना जाय तो यह स्वद्रव्य-परद्रव्य की व्यवस्था कैसे बन सकती है ?

पर से सुख-दुःख की मान्यता से निरन्तर आस्रव -

परेभ्य: सुख-दु:खानि द्रव्येभ्यो यावदिच्छति ।
तावदास्रव-विच्छेदो न मनागपि जायते ॥126॥

अन्वयार्थ : यावत् (जीव:) परेभ्य: द्रव्येभ्य: सुख-दु:खानि इच्छति, तावत् मनाक् अपि आस्रव-विच्छेद: न जायते ।
जबतक यह जीव परद्रव्यों से सुख-दुःख की इच्छा करता है (परद्रव्यों से सुख-दुःख की प्राप्ति की मान्यता रखता है), तबतक आस्रव का किंचित् (अल्प) भी विच्छेद **अर्थ**ात् नाश नहीं हो सकता (आस्रव निरन्तर होता ही रहता है) ।

मिथ्यात्व से देह संबंधी विपरीतता -

अचेतनत्वमज्ञात्वा स्वदेह-परदेहयो: ।
स्वकीय-परकीयात्मबुद्धितस्तत्र वर्तते ॥127॥
अन्वयार्थ : (मिथ्यादृष्टि:) स्वदेह-परदेहयो: अचेतनत्वं अज्ञात्वा तत्र स्वकीय-परकीय आत्मबुद्धित: वर्तते ।
(अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव) स्वदेह और परदेह के अचेतनपने को न जानकर स्वदेह में आत्मबुद्धि से और परदेह में परकीय आत्मबुद्धि से प्रवृत्त होता है (अपने शरीर को अपना आत्मा और पर के शरीर को पर का आत्मा समझकर व्यवहार करता है) ।

मिथ्यात्व से पुत्रादिक में आत्मीय बुद्धि -

यदात्मीयमनात्मीयं विनश्वरमनश्वरम् ।
सुखदं दुखदं वेत्ति न चेतनमचेतनम् ॥128॥
पुत्र-दारादिके द्रव्ये तदात्मीयत्व-शेमुषीम् ।
कर्मास्रवमजानानो विधत्ते मूढ़ानस: ॥129॥
अन्वयार्थ : यदा (अयं जीव:) आत्मीयं, अनात्मीयं, विनश्वरं, अनश्वरं, सुखदं, दु:खदं, चेतनं, अचेतनं (वा) न वेत्ति । तदा कर्म-आस्रवं अजानान: मूढानस: पुत्र-दारादिके द्रव्ये आत्मीयत्व-शेमुषीं विधत्ते ।
जबतक यह जीव आत्मीय-अनात्मीय, विनाशीक-अविनाशीक, सुखदायी-दुःखदायी और चेतन-अचेतनको नहीं जानता है तबतक कर्म के आस्रव को न जानता हुआ यह मूढ प्राणी, पुत्र-स्त्री आदि पदार्थों में आत्मीयत्व की बुद्धि रखता है - उन्हें अपना समझता है ।

सब स्वतंत्र एवं स्वाधीन -

कषाया नोपयोगेभ्यो नोपयोगा: कषायत: ।
न मूर्तामूर्तयोरस्ति संभवो हि परस्परम् ॥130॥
अन्वयार्थ : उपयोगेभ्य: कषाया: न (संभवा:) । कषायत: उपयोगा: न (संभवा:)। नहि मूर्त-अमूर्तयो: परस्परं (उत्पाद:) संभव: अस्ति ।
ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग से क्रोधादि कषाय उत्पन्न नहीं होते और कषायों से ज्ञानदर्शनरूप उपयोग उत्पन्न नहीं होते । अमूर्तिक द्रव्य से मूर्तिक द्रव्य उत्पन्न हो और मूर्तिक द्रव्य से अमूर्तिक द्रव्य उत्पन्न हो - ऐसी परस्पर उत्पत्ति संभव ही नहीं है ।

सकषाय जीव के ही कषाय होते हैं, अकषाय जीव के नहीं -

कषाय-परिणामोऽस्ति जीवस्य परिणामिन: ।
कषायिणोऽ कषायस्य सिद्धस्येव न सर्वथा ॥131॥
न संसारो न मोक्षोऽस्ति यतोऽस्यापरिणामिन: । ।
निरस्त-कर्म-सङ्गश्चापरिणामी ततो मत: ॥132॥
अन्वयार्थ : कषायिण: परिणामिन: जीवस्य कषाय-परिणाम: अस्ति । अकषायस्य सर्वथा न अस्ति सिद्धस्य इव । यत: अस्य अपरिणामिन: अकषायिण: न संसार: न मोक्ष: अस्ति । तत: निरस्त-कर्मस': अपरिणामी मत: ।
कषाय सहित परिणमनशील जीव के कषाय-परिणाम होता है और जो जीव कषाय रहित परिणमन करता है, उस जीव को कषाय परिणाम नहीं होता; जैसे - सिद्ध पर्याय से परिणत जीव ।
क्योंकि कषाय रहित अपरिणामी जीव के न तो संसार है और न मोक्ष । इस कारण जिसके कर्म का अभाव हो गया है, वह जीव अपरिणामी माना गया है ।

जीव तथा कर्म के कर्तृत्वसंबंधी कथन -

नान्योन्य-गुण-कर्तृत्वं विद्यते जीव-कर्मणो: ।

अन्योन्यापेक्षयोत्पत्ति: परिणामस्य केवलम् ॥133॥

अन्वयार्थ : जीव-कर्मणो: अन्योन्य-गुण-कर्तृत्वं न विद्यते । अन्योन्यापेक्षया केवलं परिणामस्य उत्पत्ति: (जायते) ।

जीव और आठ प्रकार के कर्म में एक दूसरे के गुणों का कर्तापना विद्यमान नहीं है (न जीव में कर्म के गुणों को करने की सामर्थ्य है और न कर्म में जीव के गुणों को उत्पन्न करने की शक्ति है); एक-दूसरे की अपेक्षा (निमित्त) से केवल परिणाम की ही उत्पत्ति होती है ।

जीव तथा कर्म के कर्तासंबंधी ही नयसापेक्ष कथन -

स्वकीय-गुण-कर्तृत्वं तत्त्वतो जीव-कर्मणो: ।

क्रियते हि गुणस्ताभ्यां व्यवहारेण गद्यते ॥134॥

अन्वयार्थ : तत्त्वत: जीव-कर्मणो: स्वकीय-गुण-कर्तृत्वं (विद्यते); ताभ्यां गुण: क्रियते (इति) हि व्यवहारेण गद्यते ।

निश्चयनय से जीव और कर्म में अपने-अपने गुणों का कर्तापना विद्यमान है (जीव अपने ज्ञानादि गुणों / पर्यायों का और कार्माणवर्गणारूप पुद्गल कर्म अपने ज्ञानावरणादि गुणों / पर्यायों का कर्ता है); एक के द्वारा दूसरे के गुणों / पर्यायों का किया जाना जो कहा जाता है, वह सर्व व्यवहारनय की अपेक्षा से कहा जाता है ।

पुद्गल की अपेक्षा से जीव के औदयिक भावों की उत्पत्ति तथा स्थिति -

उत्पद्यन्ते यथा भावा: पुद्गलापेक्षयात्मन: ।

तथैवौदयिका भावा विद्यन्ते तदपेक्षया ॥135॥

अन्वयार्थ : यथा पुद्गलापेक्षया आत्मन: भावा: उत्पद्यन्ते तथा एव तदपेक्षया औदयिका: भावा: विद्यन्ते ।

जिसप्रकार पुद्गलात्मक कर्म के उदयादि की अपेक्षा (निमित्त पाकर) जीव के औदयिकादि भाव उत्पन्न होते हैं; उसीप्रकार पुद्गलरूप कर्म की अपेक्षा (उदय के निमित्त) से उत्पन्न औदयिक भाव विद्यमान रहते हैं ।

मिथ्यात्व का स्वरूप एवं कार्य -

कुर्वाण: परमात्मानं सदात्मानं पुन: परम् ।

मिथ्यात्व-मोहित-स्वान्तो रजोग्राही निरन्तरम् ॥136॥

अन्वयार्थ : मिथ्यात्व-मोहित-स्वान्त: सदा परं आत्मानं, पुन: आत्मानं परं कुर्वाण: निरन्तरं (कर्म) रजोग्राही (भवति) ।

जो मिथ्यात्व से मोहितचित्त होता हुआ सदा पर वस्तु को आत्मा मानता है और अपनी आत्मा को परद्रव्यरूप करता है, वह निरंतर कर्मरूपी रज को ग्रहण करता है (उसे निरन्तर कर्मास्रव होता है) ।

मिथ्यादृष्टि के कार्य का खुलासा -

राग-मत्सर-विद्वेष-लोभ-मोह- मदादिषु ।

हृषीक-कर्म-नोकर्म-रूप-स्पर्श-रसादिषु ॥137॥

एतेऽहमहमेतेषामिति तादात्म्यमात्मन: ।

विमूढ़: कल्पयन्नात्मा स्व-परत्वं न बुध्यते ॥138॥

अन्वयार्थ : विमूढ: आत्मा राग-मत्सर-विद्वेष-लोभ-मोह-मद-आदिषु हृषीक-कर्म-नोकर्म-रूप-स्पर्श-रस-आदिषु एते अहं एतेषां अहं इति आत्मन: तादात्म्यं कल्पयन् स्व-परत्वं न बुध्यते ।

मूढ आत्मा जीव राग, द्वेष, ईर्षा, लोभ, मोह, मदादिक में तथा इंद्रिय, कर्म, नोकर्म, रूप, रस, स्पर्शादिक विषयों में - 'ये मैं हूँ और मैं इनका हूँ', इसप्रकार आत्मा के तादात्म्य (एकत्व) की कल्पना करता हुआ स्व-पर-विवेक को (अपने और पर के यथार्थ बोध **अर्थ**ात्

भेदज्ञान को) प्राप्त नहीं होता ।

अचारित्र का स्वरूप -

हिंसने वितथे स्तेये मैथुने च परिग्रहे ।
मनोवृत्तिरचारित्रं कारणं कर्मसंतते: ॥139॥
अन्वयार्थ : हिंसने वितथे स्तेये मैथुने परिग्रहे च मनोवृत्ति: अचारित्रं कर्मसंतते: कारणं ।
हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों में मन की जो प्रवृत्ति होती है; उसे अचारित्र कहते हैं, यह प्रवृत्ति, कर्म-संतति (कर्म की उत्पत्ति, स्थिति तथा परंपरा) का कारण है ।

मिथ्याचारित्र का स्वरूप -

रागतो द्वेषतो भावं परद्रव्ये शुभाशुभम् ।
आत्मा कुर्वन्नचारित्रं स्व-चारित्र-पराङ्मुख: ॥140॥
अन्वयार्थ : परद्रव्ये रागत: द्वेषत: शुभाशुभं भावं कुर्वन् स्व-चारित्र-परान्मुख: आत्मा अचारित्रं ।
परद्रव्य में रागरूप परिणाम के कारण अथवा द्वेषरूप परिणाम के कारण शुभ अथवा अशुभरूप भाव को करता हुआ आत्मा मिथ्याचारित्री होता है; क्योंकि वह उस समय अपने चारित्र से विमुख रहता है ।

मिथ्याचारित्र का स्वरूप और स्पष्ट करते हैं -

यत: संपद्यते पुण्यं पापं वा परिणामत: ।
वर्तमानो ततस्तत्र भ्रष्टोऽस्ति स्वचरित्रत: ॥141॥
अन्वयार्थ : यत: (शुभ-अशुभ) परिणामत: पुण्यं वा पापं संपद्यते । तत: तत्र वर्तमान: स्वचारित्रत: भ्रष्ट: अस्ति ।
क्योंकि शुभ और अशुभ परिणाम से पुण्य तथा पाप कर्म की उत्पत्ति होती है, इसलिए इन परिणामों में (उपादेय बुद्धि से) प्रवर्तमान आत्मा अपने चारित्र से भ्रष्ट होता है ।

मिथ्याचारित्र का फल -

श्वाभ्र-तिर्यङ्-नर-स्वर्गिगतिं जाता: शरीरिण: ।
शारीरं मानसं दु:खं सहन्ते कर्म-संभवम् ॥142॥
अन्वयार्थ : (स्व -चारित्रभ्रष्टा:) श्वाभ्र-तिर्यङ्-नर-स्वर्गि-गतिं जाता: शरीरिण: (जीवा:) कर्म-संभवं शारीरं मानसं दु:खं सहन्ते ।
शुभाशुभ भावों में उपादेयबुद्धि रखने के कारण अपने चारित्र से भ्रष्ट होकर पुण्य-पाप कर्म के संचय करनेवाला नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगति को प्राप्त करते हुए कर्मजन्य शारीरिक तथा मानसिक दुःख को सहन करते हैं ।

देवेन्द्रों का विषय-सुख भी दुःख ही है -

यत्सुखं सुरराजानां जायते विषयोद्भवम् ।
ददानं दाहिकां तृष्णां दु:खं तदवबुध्यताम् ॥143॥
अन्वयार्थ : सुरराजानां विषय-उद्भवं यत् सुखं जायते तत् दाहिकां तृष्णां ददानं दु:खं (एव अस्ति इति) अवबुध्यताम् ।
देवेन्द्रों को इन्द्रिय-विषयों से उत्पन्न जो सुख होता है वह दाह उत्पन्न करनेवाली तृष्णा को देनेवाला है; इसलिए उसे (वस्तुतः) दुःख ही समझना चाहिए ।

इंद्रिय-जनित सुख, दुःख ही है -

अनित्यं पीडकं तृष्णा-वर्धकं कर्मकारणम् ।

शर्माक्षजं पराधीनमशर्मैव विदुर्जिना: ॥144॥

अन्वयार्थ : अनित्यं, पीडकं, तृष्णा-वर्धकं, कर्मकारणं पराधीनं अक्षजं शर्म जिना: अशर्म एव विदु: ।

जो अनित्य हैं, पीड़ाकारक है, तृष्णावर्धक है, कर्मबंध का कारण है, पराधीन है, उस इंद्रियजन्य सुख को जिनराजों ने असुख (दुःख) ही कहा है ।

सांसारिक सुख को सुख माननेवाला मिथ्याचारित्री है -

सांसारिकं सुखं सर्वं दु:खतो न विशिष्यते ।

यो नैव बुध्यते मूढ़: स चारित्री न भण्यते ॥145॥

अन्वयार्थ : सांसारिकं सर्वं सुखं दु:खत: न विशिष्यते ।(एतत् तत्त्वं) य: न एव बुध्यते स: मूढ: चारित्री न भण्यते ।

'संसार का सम्पूर्ण सुख और दुःख - इनमें कोई अंतर नहीं', जो इस तत्त्व को नहीं समझता, वह मूढ़ चारित्रवान नहीं है; ऐसा समझना चाहिए ।

पुण्य-पाप में भेद माननेवाला चारित्रभ्रष्ट -

य: पुण्यपापयोर्मूढ़ोऽविशेषं नावबुध्यते ।

स चारित्रपरिभ्रष्ट: संसार-परिवर्धक: ॥146॥

अन्वयार्थ : य: मूढ: पुण्य-पापयो: विशेषं न अवबुध्यते; स: चारित्रभ्रष्ट:; संसारपरिवर्धक: (च भवति) ।

जो मूढ पुण्य-पाप में अविशेष नहीं जानता है (भेद जानता है), वह चारित्र से भ्रष्ट और संसार को बढ़ानेवाला है ।

व्यवहार चारित्र से मुक्ति नहीं -

पापारम्भं परित्यज्य शस्तं वृत्तं चरन्नपि ।

वर्तमान: कषायेन कल्मषेभ्यो न मुच्यते ॥147॥

अन्वयार्थ : पापारम्भं परित्यज्य शस्तं वृत्तं चरन् अपि कषायेन (सह) वर्तमान: (आत्मा) कल्मषेभ्य: न मुच्यते ।

हिंसादि पाँच पाप और पापजनक आरम्भ को छोड़कर (२८ मूलगुणरूप) पुण्यमय आचरण करता हुआ भी यदि (पुण्य-पाप को उपादेय माननेरूप) कषाय के साथ वर्त रहा है तो वह पाप से नहीं छूटता ।

कर्मबंध में बाह्य वस्तु अकिंचित्कर -

जायन्ते मोह-लोभाद्या दोषा यद्यपि वस्तुत: ।

तथापि दोषतो बन्धो दुरितस्य न वस्तुत: ॥148॥

अन्वयार्थ : यद्यपि वस्तुत: मोह-लोभाद्या: दोषा: जायन्ते, तथापि दोषतः दुरितस्य बन्ध: (जायते), न वस्तुत: ।

यद्यपि वस्तु (बाह्य परपदार्थ) के निमित्त से मोह तथा लोभादिक दोष उत्पन्न होते हैं; तथापि कर्म का बन्ध, उत्पन्न हुए दोषों के कारण होता है, न कि वस्तु के कारण (परपदार्थ बन्ध का कारण नहीं है) ।

भेदज्ञानी तथा मिथ्या कल्पनाओं का त्यागी ही मुक्त होता है -

मिथ्याज्ञान-निविष्ट-योग-जनिता: संकल्पना भूरिश: ।

संसार-भ्रमकारिकर्म-समितेरावर्जने या क्षमा: ॥

त्यज्यन्ते स्व-परान्तरं गतवता नि:शेषतो येन तास्तेनात्मा ।

विगताष्टकर्म-विकृति: संप्राप्यते तत्त्वत: ॥149॥

अन्वयार्थ : मिथ्याज्ञान-निविष्ट-योग-जनिता: भूरिश: संकल्पना: संसार-भ्रमणकारि-कर्म-समिते: आवर्जने या: क्षमा: ता: स्व-परान्तरं गतवता येन (योगिना) नि:शेषत: त्यज्यन्ते तेन तत्त्वत: विगत-अष्ट-कर्म-विकृति: (यस्मात् स:) आत्मा संप्राप्यते ।

मिथ्याज्ञान पर आधारित योगों से उत्पन्न हुई जो बहुत-सी कल्पनाएँ (वृत्तियाँ) संसार-भ्रमण करानेवाले कर्मसमूह के आस्रव में समर्थ हैं; वे स्व-पर के भेद को पूर्णतः जाननेवाले जिस योगी के द्वारा पूरी तरह त्यागी जाती हैं; उसके द्वारा वस्तुतः आठों कर्मों की विकृति से रहित शुद्ध आत्मा प्राप्त किया जाता है - कर्मों के सारे विकार से रहित विविक्त आत्मा की उपलब्धि उसी योगी को होती है, जो उक्त योगजनित कल्पनाओं एवं कर्मास्रव-मूलक वृत्तियों का पूर्णतः त्याग करता है ।

बन्ध का लक्षण -

पुद्गलानां यदादानं योग्यानां सकषायत: ।
योगत: स मतो बन्धो जीवास्वातन्त्र्य-कारणम् ॥150॥

अन्वयार्थ : योग्यानां पुद्गलानां सकषायत: योगत: यत् आदानं स: बन्ध: मत: (यत्) जीव-अस्वातन्त्र्य-कारणं (अस्ति) ।

कर्मरूप परिणमनेयोग्य कार्माणवर्गणारूप पुद्गलों का कषाय सहित योग से जीव, द्वारा जो ग्रहण होता है, उसको बन्ध कहते हैं, जो जीव की पराधीनता का कारण है ।

कर्मबन्ध के चार भेद -

प्रकृतिश्च स्थितिर्ज्ञेय: प्रदेशोऽनुभव: पर: ।
चतुर्धा कर्मणो बन्धो दु:खोदय-निबन्धनम् ॥151॥

अन्वयार्थ : कर्मण: बन्ध: प्रकृति: स्थिति: प्रदेश: अनुभव-पर: च चतुर्धा ज्ञेय: (यत्) दु:खोदय-निबन्धनं (भवति) ।

कर्म का बन्ध प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग के भेद से चार प्रकार का जानना चाहिए, जो कि आत्मा को दुःख का कारण है ।

चारों बंधों का सामान्य स्वरूप -

निसर्ग: प्रकृतिस्तत्र स्थिति: कालावधारणम् ।
सुसंक्लिप्ति: प्रदेशोऽस्ति विपाकोऽनुभव: पुन: ॥152॥

अन्वयार्थ : तत्र निसर्ग: प्रकृति:, कालावधारणं स्थिति:, सुसंक्लिप्ति: प्रदेश:, पुन: विपाक: अनुभव: अस्ति ।

उक्त चार प्रकार के कर्मबन्धों में कर्म के स्वभाव का नाम प्रकृतिबन्ध, कर्म के जीव के साथ रहने की कालावधि का नाम स्थितिबन्ध, कर्मों का जीव के प्रदेशों में संश्लेष हो जाने का नाम प्रदेशबन्ध और कर्म के फलदान शक्ति का नाम अनुभव / अनुभागबन्ध है ।

कर्मबन्ध का स्वामी -

रागद्वेषद्वयालीढ: कर्म बध्नाति चेतन: ।
व्यापारं विदधानोऽपि तदपोढ़ो न सर्वथा ॥153॥

अन्वयार्थ : राग-द्वेषद्वयालीढ: चेतन: कर्म बध्नाति तदपोढ: (राग-द्वेषाभ्याम् अपोढ़:) (योगस्य) व्यापारं विदधान: अपि न सर्वथा (कर्म बध्नाति) ।

राग-द्वेष-दोनों से सहित चेतन/आत्मा कर्म बांधता है और राग-द्वेष से रहित आत्मा मन-वचन-काय की क्रिया को करता हुआ भी कर्म का बन्ध किंचित् मात्र भी नहीं करता ।

उदाहरणों से बन्ध का स्पष्टीकरण -

सचित्ताचित्त-मिश्राणां कुर्वाणोऽपि निषूदनम् ।
रजोभिर्लिप्यते रूक्षो न तन्मध्ये चरन् यथा ॥154॥
विदधानो विचित्राणां द्रव्याणां विनिपातनम् ।
रागद्वेषद्वयापेतो नैनोभिर्बध्यते तथा ॥155॥

अन्वयार्थ : यथा रूक्ष: (शरीरी) तन्मध्ये (रजस: मध्ये) चरन् सचित्त-अचित्त-मिश्राणां (च) निषूदनं कुर्वाण: अपि रजोभि: न लिप्यते ।

तथा राग-द्वेष-द्वयापेत: (जीव:) सचित्त-अचित्त-मिश्राणां विचित्राणां द्रव्याणां विनिपातनं विदधान: (अपि) एनोभि: न बध्यते ।
जिसप्रकार चिकनाई से रहित रूक्ष शरीर का धारक जीव धूलि के मध्य में विचरता हुआ और सचित्त-अचित्त तथा मिश्र पदार्थों का छेदन-भेदनादि करता हुआ भी रज **अर्थ**ात् धूलि से लिप्त नहीं होता ।
उसीप्रकार राग-द्वेषरूप दोनों विकारी भावों से रहित हुआ जीव नाना प्रकार के चेतन-अचेतन तथा मिश्र पदार्थों के मध्य में विचरता हुआ और उनका छेदन-भेदनादिरूप उपघात करता हुआ भी कर्मों से बन्ध को प्राप्त नहीं होता ।

कर्मबन्ध का कारण कषायों से आकुलित चित्त -

सर्वव्यापारहीनोऽपि कर्मध्ये व्यवस्थित: ।
रेणुभिर्व्याप्यते चित्रै: स्नेहाभ्यक्ततनुर्यथा ॥156॥
समस्तारम्भ-हीनोऽ पि कर्मध्ये व्यवस्थित: ।
कषायाकुलितस्वान्तो व्याप्यते दुरितैस्तथा ॥157॥
अन्वयार्थ : यथा स्नेह-अभ्यक्त-तनु: (पुरुष:) कर्मध्ये व्यवस्थित: सर्वव्यापारहीन: अपि चित्रै: रेणुभि: व्याप्यते ।
तथा कषाय-आकुलित-स्वान्त: कर्मध्ये व्यवस्थित: समस्त-आरम्भ-हीन: अपि दुरितै: व्याप्यते ।
जिसप्रकार शरीर में तेलादि की मालिश किया हुआ पुरुष धूलि से व्याप्त कर्मक्षेत्र में बैठा हुआ समस्त व्यापार से हीन होता हुआ **अर्थ**ात् कर्मक्षेत्र में स्वयं कुछ काम न करता हुआ भी नाना प्रकार की धूलि से व्याप्त होता है ।
उसीप्रकार जिसका चित्त क्रोधादि कषायों से आकुलित है, वह कर्म के मध्य में स्थित हुआ समस्त आरम्भों से रहित होने पर भी कर्मों से व्याप्त/लिप्त होता है ।

कोई किसी का मरणादि नहीं कर सकता -

मरणं जीवनं दु:खं सौख्यं रक्षा निपीडनम् ।
जातु कर्तुमूर्तस्य चेतनस्य न शक्यते ॥158॥
अन्वयार्थ : अमूर्तस्य चेतनस्य जीवनं मरणं सौख्यं दु:खं रक्षा निपीडनं कर्तं‍ु जातु न शक्यते ।
इस संसार में अनादि-अनन्त एवं अमूर्तिक चेतन आत्मा का जीवन, मरण, सुख, दुःख, रक्षण एवं पीडन करने के लिये अन्य कोई भी और कभी भी समर्थ नहीं है ।

मारणादि परिणामों से कर्मबन्ध -

विदधान: परीणामं मारणादिगतं परम् ।
बध्नाति विविधं कर्म मिथ्यादृष्टिर्निरन्तरम् ॥159॥
अन्वयार्थ : मिथ्यादृष्टि: निरंतरं परं मारणादिगतं परीणामं विदधान: विविधं कर्म बध्नाति ।
वास्तविक वस्तु-व्यवस्था को न जाननेवाला मिथ्यादृष्टि/अज्ञानी अपने से संबंधित अन्य जीवों के मारणादि विषयक अशुभ परिणाम करता हुआ सतत अनेक प्रकार के दुःखदायी कर्मों को बाँधता रहता है ।

मरणादिक सब कर्म-निर्मित -

कर्मणा निर्मितं सर्वं मरणादिकमात्मन: ।
कर्माावितरतान्येन कर्तुं हर्तुं न शक्यते ॥160॥
अन्वयार्थ : आत्मन: मरणादिकं सर्वं कर्मणा निर्मितं (वर्तते) । कर्म-अवितरत-अन्येन (मरणादिकं सर्वं) कर्तं‍ु हर्तुं न शक्यते ।
आत्मा का मरण-जीवन, सुख-दुःख, रक्षण, पीड़न - ये सब कार्य कर्म द्वारा निर्मित हैं । जो कर्म को नहीं देनेवाले ऐसे अन्यजन हैं, उनके द्वारा जीवन-मरणादिक का करना-हरना कभी नहीं बन सकता ।

जिलाने आदि की मान्यता मिथ्यात्वजनित -

या जीवयामि जीव्येऽहं मार्येऽहं मारयाम्यहम् ।

निपीडये निपीड्येऽहं सा बुद्धिर्मोहकल्पिता ॥161॥

अन्वयार्थ : (अहं) जीवयामि, अहं जीव्ये, अहं मारयामि, अहं मार्ये, (अहं) निपीडये, निपीड्ये या बुद्धि: सा मोह-कल्पिता (भवति) ।
मैं दूसरे जीवों को जिलाता हूँ, मुझे दूसरे जीव जिलाते हैं, मैं दूसरे जीवों को मारता हूँ, मुझे दूसरे जीव मारते हैं, मैं दूसरे जीवों को पीड़ा देता हूँ, मुझे दूसरे जीव पीडा देते हैं - इसतरह की जो मान्यता है, वह मिथ्यात्व से निर्मित **अर्थ**ात् मोह से की हुई कल्पना ही है ।

कर्ताबुद्धि मिथ्या है -

कोऽपि कस्यापि कर्तास्ति नोपकारापकारयोः ।

उपकुर्वेऽपकुर्वेऽहं मिथ्येति क्रियते मतिः ॥162॥

अन्वयार्थ : क: अपि कस्य अपि उपकार-अपकारयो: कर्ता न अस्ति । अहं (कस्यापि) उपकुर्वे, अपकुर्वे इति (या) मति: क्रियते (सा) मिथ्या (अस्ति) ।
कोई भी द्रव्य अन्य किसी भी द्रव्य का उपकार तथा अपकार करनेवाला नहीं है । व्यावहारिक जीवन में मैं दूसरों का कल्याण / अच्छा करता हूँ अथवा मैं अकल्याण / बुरा करता हूँ; यह मान्यता मिथ्या / खोटी है ।

करने-कराने का भाव कर्मोदयजन्य -

सहकारितया द्रव्यमन्येनान्यद् विधीयते ।

क्रियमाणोऽन्यथा सर्व: संकल्प: कर्म-बन्धज: ॥163॥

अन्वयार्थ : सहकारितया द्रव्यं अन्येन अन्यत् विधीयते ।अन्यथा क्रियमाण: सर्व: संकल्प: कर्म-बन्धज: (भवति) ।
सरलार्थ :- सहकारिता **अर्थ**ात् निमित्त की दृष्टि से देखा जाय तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से अन्यरूप में किया जाता है । अन्यथा करने-करानेरूप जो संकल्प है, वह सब कर्मबन्ध से उत्पन्न होता है अर्थात् कर्म के उदयजन्य है; उसमें जीव का कुछ कर्तापना नहीं है ।

चारित्रादि की मलिनता में हेतु मिथ्यात्व -

चारित्रं दर्शनं ज्ञानं मिथ्यात्वेन मलीमसम् ।

कर्पटं कर्दनेव क्रियते निज-संगत: ॥164॥

अन्वयार्थ : कर्देन कर्पटं इव चारित्रं दर्शनं ज्ञानं मिथ्यात्वेन निज-संगतः मलीमसं क्रियते ।
जिसप्रकार कपड़ा कीचड़ के साथ स्वयं संपर्क करने से मैला हो जाता है; उसीप्रकार मिथ्यात्व के साथ स्वयं संगति करने से चारित्र, दर्शन/ श्रद्धा और ज्ञान मिथ्या हो जाते हैं ।

चारित्रादि गुणों का पर्यायगत स्वभाव -

चारित्रादि-त्रयं दोषं स्वीकरोति मलीमसम् ।

न पुनर्निर्लीभूतं सुवर्णमिव तत्त्वत: ॥165॥

अन्वयार्थ : वस्तुत: मलीमसं चारित्रादि-त्रयं दोषं स्वीकरोति पुन: सुवर्णं इव निर्मलीभूतं (चारित्रादि-त्रयं) न (दोषं स्वीकरोति)
मिथ्यात्व अवस्था में विद्यमान चारित्र, दर्शन एवं ज्ञान मिथ्या दोष को स्वीकार कर मिथ्यारूप/परिणमते हैं; परंतु मिथ्यात्व रहित साधक तथा सिद्ध अवस्था में अत्यन्त परिशुद्ध / निर्मल पर्यायरूप परिणत सम्यक् चारित्र, दर्शन एवं ज्ञान मिथ्यारूप दोष को ग्रहण नहीं करते; वे चारित्र आदि भविष्य में अनंतकाल तक सम्यक्रूप ही रहते हैं । जैसे कि किट्ट-कालिमा से रहित शुद्ध निर्मल/सुवर्ण फिर से उस किट्ट-कालिमा को ग्रहण नहीं करता ।

भोगता हुआ सम्यग्दृष्टि अबन्धक -

नीरागोऽप्रासुकं द्रव्यं भुञ्जानोऽपि न बध्यते ।
शंख: किं जायते कृष्ण: कर्दादौ चरन्नपि ॥166॥
अन्वयार्थ : कर्दादौ चरन् अपि शंख: किं कृष्ण: जायते ? (न जायते; तथा एव) नीराग: (जीव:) अप्रासुकं द्रव्यं भुञ्जान: अपि न बध्यते ।
जिसप्रकार कीचड आदि में विचरता/पडा हुआ भी शंख क्या काला हो जाता है? कदापि काला नहीं हो जाता, वह सफेद ही बना रहता है । उसीप्रकार जो कथंचित् वीतरागी हुआ श्रावक है, वह अप्रासुक पदार्थों का भोजन/सेवन करता हुआ भी मिथ्यात्वादि अनेक कर्म-प्रकृतियों के बन्ध को प्राप्त नहीं होता ।

न भोगता हुआ मिथ्यादृष्टि बंधक -

सरागो बध्यते पापैरभुञ्जानोऽ पि निश्चितम् ।
अभुञ्जाना न किं मत्स्या: श्वभ्रं यान्ति कषायत: ॥167॥
अन्वयार्थ : अभुञ्जाना: मत्स्या: कषायत: किं श्वभ्रं न यान्ति ? (अवश्यमेव यान्ति; तथा एव) अभुञ्जान: अपि सराग: (जीव:) निश्चितं पापै: बध्यते ।
जिसप्रकार स्वयम्भूरमण समुद्र में रहनेवाला तन्दुलमत्स्य न भोगता हुआ भी क्या कषाय से (भोगने की लालसा से) नरक को प्राप्त नहीं होता? उसीप्रकार द्रव्यों को न भोगता हुआ भी भोग में सुख की मान्यता रखनेवाला सरागी (मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्वादि) सर्व पाप कर्मों के बंध को प्राप्त होता है, यह निश्चित है ।

ज्ञानी / सम्यग्दृष्टि भोगों से अबन्धक -

ज्ञानी विषयसंगेऽपि विषयैर्नैव लिप्यते ।
कनकं मलमध्येऽपि न मलैरुपलिप्यते ॥168॥
अन्वयार्थ : (यथा) मलमध्ये अपि कनकं मलै: न उपलिप्यते (तथा) विषय-संगे (सति) अपि ज्ञानी विषयै: न एव लिप्यते ।
जैसे किसी भी प्रकार के कीचड़ादि मल में पड़ा हुआ शुद्ध सुवर्ण मल के कारण से अशुद्ध नहीं होता; वैसे ज्ञानी भी अनेक प्रकार के विषय-भोगों को भोगते हुए भी उन विषयों के कारण मिथ्यात्व-जन्य कर्मों से बद्ध नहीं होते **अर्थ**ात् निर्लिप्त ही रहते हैं ।

साधक योगी आहारादि से अबन्धक -

आहारादिभिरन्येन कारितैर्मोदितै: कृतै: ।
तदर्थं बध्यते योगी नीरागो न कदाचन ॥169॥
अन्वयार्थ : नीराग: योगी तदर्थं अन्येन कृतै: कारितै: मोदितै: (च) आहारादिभि: कदाचन न बध्यते ।
अनंतानुबंधी आदि तीन कषाय चौकडी के अभावपूर्वक व्यक्त वीतरागता सहित योगी (मुनिराज) के लिए दूसरों से (श्रावकों से) किये, कराये तथा अनुमोदित आहार, वसतिका आदि से मुनिराज कभी भी बंध को प्राप्त नहीं होते ।

श्रावक के परिणामों से मुनिराज को बंध नहीं होता -

परद्रव्यगतै-र्दोषैर्नीरागो यदि बध्यते ।
तदानीं जायते शुद्धि: कस्य कुत्र कुत: कदा ॥170॥
अन्वयार्थ : परद्रव्यगतै: दोषै: यदि नीराग: बध्यते; तदानीं कस्य कदा कुत्र कुत: शुद्धि: जायते ?
परद्रव्य में उत्पन्न होनेवाले दोषों के कारण यदि वीतरागी मुनिराज को कर्म का बंध होता रहे तो फिर किसकी, कब, कहाँ और कैसे शुद्धि हो सकती है ?

विषयों के ज्ञाता-दृष्टा योगी अबन्धक -

नीरागो विषयं योगी बुध्यमानो न बध्यते ।

परथा बध्यते किं न केवली विश्ववेदक: ॥171॥

अन्वयार्थ : नीराग: योगी विषयं बुध्यमान: (अपि) न बध्यते; परथा विश्ववेदक: केवली किं न बध्यते ?

जो वीतरागी योगी **अर्थ**ात् मुनिराज हैं, वे विषयों को जानते हुए कर्मबंध को प्राप्त नहीं होते । यदि विषयों को जानने से कर्मबंध होता हो तो विश्व के ज्ञाता केवली कर्म-बंध को प्राप्त क्यों नहीं होंगे ?

ज्ञानी एवं अज्ञानी में भिन्नता -

ज्ञानिना सकलं द्रव्यं ज्ञायते वेद्यते न च ।

अज्ञानिना पुन: सर्वं वेद्यते ज्ञायते न च ॥172॥

अन्वयार्थ : ज्ञानिना सकलं द्रव्यं ज्ञायते न वेद्यते च पुन: अज्ञानिना सर्वं वेद्यते न च ज्ञायते ।

ज्ञानी जीव समस्त वस्तु-समूह को जानते हैं; परंतु उसका वेदन नहीं करते और अज्ञानी जीव सकल वस्तु-समूह का वेदन करते हैं; किन्तु जानते नहीं ।

ज्ञान और वेदन की परिभाषा -

यथावस्तुपरिज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिभिरुच्यते ।

राग-द्वेष-मद-क्रोधै: सहितं वेदनं पुन: ॥173॥

अन्वयार्थ : यथा - वस्तु (तथा) परिज्ञानं ज्ञानिभि: ज्ञानं उच्यते पुन: (यत् परिज्ञानं) रागद्वेष-मद-क्रोधै: सहितं (भवति तत्) वेदनं (उच्यते) ।

जो वस्तु जिस रूप में स्थित है, उसे उसी रूप में जानने को ज्ञानीजनों ने ज्ञान कहा है और जो जानना राग-द्वेष, मद, क्रोध सहित होता है, उसे वेदन कहते हैं ।

ज्ञान और अज्ञान का एक-दूसरे में अभाव -

नाज्ञाने ज्ञान-पर्याया: ज्ञाने नाज्ञानपर्यया: ।

न लोहे स्वर्ण-पर्याया न स्वर्णे लोह-पर्यया: ॥174॥

अन्वयार्थ : (यथा) लोहे स्वर्ण-पर्याया: न (सन्ति), स्वर्णे (च) लोह-पर्याया: न (सन्ति; तथा) अज्ञाने ज्ञान-पर्याया: न (सन्ति), ज्ञाने (च) अज्ञान-पर्याया: न (सन्ति) ।

जिसप्रकार लोहे में स्वर्ण की पर्यायें और स्वर्ण में लोह की पर्यायें नहीं होती; उसीप्रकार अज्ञान में ज्ञान की पर्यायें और ज्ञान में अज्ञान की पर्यायें नहीं होती ।

ज्ञानी अबंधक एवं अज्ञानी बंधक -

ज्ञानीति ज्ञान-पर्यायी कल्मषानामबन्धक: ।

अज्ञश्चाज्ञान-पर्यायी तेषां भवति बन्धक: ॥175॥

अन्वयार्थ : इति (य:) ज्ञानी ज्ञान-पर्यायी (अस्ति; स:) कल्मषानां अबन्धक: (भवति) (य:) च अज्ञ: अज्ञान-पर्यायी (अस्ति; स:) तेषां (कल्मषानां) बन्धक: भवति ।

जो ज्ञानी **अर्थ**ात् सम्यग्दृष्टि आदि साधक हैं, वह ज्ञान-पर्यायी अर्थात् ज्ञानरूप परिणमन को लिये हुए हैं; इसलिए मिथ्यात्वादिरूप पापकर्मों के अबन्धक हैं । और जो अज्ञानी हैं वह अज्ञान-पर्यायी हैं; अर्थात् अज्ञानरूप परिणमन को लिये हुए हैं, इसलिए वे मिथ्यात्वादि पापकर्मों के बन्धक हैं ।

कर्मफल को भोगनेवाले ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर -

दीयमानं सुखं दु:खं कर्मणा पाकमीयुषा ।

ज्ञानी वेत्ति परो भुक्ते बन्धकाबन्धकौ तत: ॥176॥

अन्वयार्थ : पाकं ईयुषा कर्मणा दीयमानं सुखं दु:खं ज्ञानी वेत्ति पर: (अज्ञानी) भुक्ते तत: (तौ द्वौ) बन्धकाबन्धकौ (भवत:) ।
पूर्वबद्ध कर्म के अनुभाग-उदय से प्राप्त सुख और दुःख को ज्ञानी जीव मात्र जानता है और अज्ञानी भोगता है । इसकारण ज्ञानी कर्मों का अबन्धक है और अज्ञानी बन्धक ।

कर्म एवं गति के कारणों का निर्देश -

कर्म गृह्णाति संसारी कषाय-परिणामत: ।
सुगतिं दुर्गतिं याति जीव: कर्म-विपाकत: ॥177॥

अन्वयार्थ : संसारी जीव: कषाय-परिणामत: कर्म गृह्णाति, (च) कर्म-विपाकत: सुगतिं दुर्गतिं याति ।
संसारी-जीव कषायादि मोह परिणाम से कर्म को ग्रहण करता है **अर्थ**ात् कर्म को बाँधता है और पूर्व बद्ध कर्म के अनुभागोदय से सुगति तथा दुर्गति को प्राप्त होता है ।

संसारी जीव की प्रवृत्ति -

सुगतिं दुर्गतिं प्राप्त: स्वीकरोति कलेवरम् ।
तत्रेन्द्रियाणि जायन्ते गृह्णाति विषयांस्तत: ॥178॥

अन्वयार्थ : सुगतिं दुर्गतिं प्राप्त: (जीव:) कलेवरं स्वीकरोति । तत्र (कलेवरे) इन्द्रियाणि जायन्ते, तत: (इन्द्रियत:) विषयान् गृह्णाति ।
देव-मनुष्यरूप सुगति और नरक-तिर्यंचरूप-दुर्गति को प्राप्त हुआ जीव उस-उस गतियोग्य शरीर को ग्रहण करता है । उस शरीर में यथायोग्य इंद्रियाँ उत्पन्न होती हैं और उन इंद्रियों से स्पर्शादि विषयों को ग्रहण करता है ।

रागादि भावों से दुःख -

ततो भवन्ति रागाद्यास्तेभ्यो दुरित-संग्रह: ।
तस्माद् भ्रमति संसारे ततो दु:खमनेकधा ॥179॥

अन्वयार्थ : तत: (विषय-ग्रहणत:) रागाद्या: भवन्ति । तेभ्य: (रागादिभ्य:) दुरित-संग्रह: (जायते) । तस्मात् (जीव:) संसारे भ्रमति । तत: (संसारत:) अनेकधा-दु:खं (प्राप्नोति) ।
प्राप्त इंद्रियों से विषय-ग्रहण के कारण राग-द्वेषादिक उत्पन्न होते हैं । रागादिक से पुण्य-पापरूप दुःखद कर्मों का संचय-**अर्थ**ात् बन्ध होता है और उस कर्म-बन्ध के कारण अनेक प्रकार का दुःख प्राप्त होता है ।

मुक्ति का कारण -

दु:खतो बिभ्यता त्याज्या: कषाया: ज्ञान-शालिना ।
ततो दुरित-विच्छेदस्ततो निर्वृति-संगम: ॥180॥

अन्वयार्थ : दु:खत: बिभ्यता ज्ञान-शालिना कषाया: त्याज्या: (सन्ति) । तत: दुरित-विच्छेद: (भवति) । तत: निर्वृति-संगम: (जायते) ।
इसलिए दुःख से भयभीत ज्ञानवान जीव को मिथ्यात्व, कषायादि का त्याग करना चाहिए । मिथ्यात्वादि के त्याग से पुण्य-पापरूप दुःखद कर्मों का नाश होता है और कर्मों के विनाश से सहज ही मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

रागादि सहित जीव के शुभाशुभ परिणाम -

सन्ति रागादयो यस्य सचित्ताचित्त-वस्तुषु ।
प्रशस्तो वाऽप्रशस्तो वा परिणामोऽस्य जायते ॥181॥

अन्वयार्थ : यस्य (जीवस्य) सचित्त-अचित्त-वस्तुषु रागादय: सन्ति; अस्य प्रशस्त: वा अप्रशस्त: परिणाम: जायते ।
जिस जीव के चेतन-अचेतन वस्तुओं में राग-द्वेष-मोह भाव होते हैं, उसके प्रशस्त / शुभ, अप्रशस्त / अशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं ।

पुण्य-पाप के कारण का परिचय -

प्रशस्तो भण्यते तत्र पुण्यं पापं पुन: पर: ।
द्वयं पौद्गलिकं मूर्तं सुख-दु:ख-वितारकम् ॥182॥

अन्वयार्थ : तत्र प्रशस्त: पुण्यं, पुन: पर: पापं भण्यते । द्वयं पौद्गलिकं, मूर्तं, सुख-दु:ख-वितारकं (च भवति) ।

उन दो प्रकार के परिणामों में प्रशस्त परिणाम को पुण्य और अप्रशस्त परिणाम को पाप कहते हैं । ये दोनों पुण्य-पापरूप परिणाम पौद्गलिक हैं, मूर्तिक हैं और क्रमशः सांसारिक सुख दुःख के दाता हैं ।

पुण्य-पाप का फल भोगनेवाला जीव मूर्तिक -

मूर्तो भवति भुञ्जान: सुख-दु:खफलं तयो: ।
मूर्तकर्मफलं मूर्तं नामूर्तेन हि भुज्यते ॥183॥

अन्वयार्थ : तयो: (पुण्य-पाप-परिणामयो:) सुख-दु:ख-फलं भुञ्जान: (जीव:) मूर्त: भवति; (यत:) मूर्त-कर्म-फलं मूर्तं अमूर्तेन न हि भुज्यते ।

उन दोनों पुण्य-पापरूप परिणामों के सुख-दुःखरूप फल को भोगता हुआ यह जीव मूर्तिक होता है; क्योंकि मूर्तिक कर्म का फल मूर्तिक होता है और वह अमूर्तिक द्वारा नहीं भोगा जाता ।

कर्म-रहित जीव अमूर्तिक -

मूर्तो भवत्यमूर्तोऽपि पुण्यपापवशीकृत: ।
यदा विमुच्यते ताभ्याममूर्तोऽस्ति तदा पुन: ॥184॥

अन्वयार्थ : पुण्य-पाप-वशीकृत: अमूर्त: (जीव:) अपि मूर्त: भवति । यदा (स: जीव:) ताभ्यां विमुच्यते तदा पुन: अमूर्त: अस्ति ।

पुण्य-पापरूप कर्म के वशीभूत हुआ अमूर्तिक जीव भी मूर्तिक हो जाता है और जब जीव उन पुण्य-पाप दोनों कर्मों से छूट जाता है, तब वह अमूर्तिक होता है ।

जीव के अमूर्तिकपने का उदाहरण -

विकारं नीयमानोऽपि कर्मभि: सविकारिभि: ।
मेघैरिव नभो याति स्वस्वभावं तदत्यये ॥185॥

अन्वयार्थ : सविकारिभि: कर्मभि: विकारं नीयमान: अपि (जीव:) मेघै: अत्यये नभ: इव तदत्यये (तस्य-विकारस्य अत्यये) स्व-स्वभावं याति ।

जिसप्रकार मेघों से विकार को प्राप्त हुआ आकाश उन मेघों के विघटित हो जाने पर अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त होता है । उसीप्रकार विकारी कर्मों के द्वारा विकार को प्राप्त हुआ यह संसारी जीव उन विकारों के नाश होने पर अपने (मूल) स्वभाव को प्राप्त होता है ।

पुण्यबंध के कारण -

अर्हदादौ परा भक्ति: कारुण्यं सर्वजन्तुषु ।
पावने चरणे राग: पुण्यबन्धनिबन्धनम् ॥186॥

अन्वयार्थ : अर्हत्-आदौ परा भक्ति:, सर्वजन्तुषु कारुण्यं, (च) पावने चरणे राग: (इदं सर्वं) पुण्य-बन्ध-निबन्धनम् (अस्ति) ।

अरहंत आदि में उत्कृष्ट भक्ति, सर्व प्राणियों में करुणाभाव और पवित्र चारित्र के अनुष्ठान/आचरण में प्रीतिरूप भाव, ये सर्व परिणाम पुण्यबन्ध के कारण हैं ।

पापबन्ध के कारण -

निन्दकत्वं प्रतीक्ष्येषु नैर्घृण्यं सर्वजन्तुषु ।
निन्दिते चरणे राग: पाप-बन्ध-विधायक: ॥187॥

अन्वयार्थ : प्रतीक्ष्येषु (अर्हत्-आदि पूज्येषु) निन्दकत्वं, सर्व-जन्तुषु नैर्घृण्यं, (च) निन्दिते चरणे राग: पाप-बन्ध विधायक: (भवति) ।
अरहन्तादि पूज्य पुरुषों के सम्बन्ध में निन्दा का परिणाम, सर्व प्राणियों के प्रति निर्दयता का भाव और सप्त व्यसन, तीव्र हिंसादि पापरूप चारित्र संबंधी प्रीतिरूप भाव (बहुमान की प्रवृत्ति) - ये सब पाप का बन्ध करनेवाले हैं ।

अज्ञानी पुण्य-पाप में भेद मानता है -

सुखासुख-विधानेन विशेष: पुण्य-पापयो: ।
नित्य-सौख्यमपश्यद्भिर्मन्यते मुग्धबुद्धिभि: ॥188॥

अन्वयार्थ : नित्य-सौख्यं अपश्यद्भि: मुग्धबुद्धिभि: सुख-असुख-विधानेन पुण्य-पापयो: विशेष: मन्यते ।
जो जीव नित्य **अर्थ**ात् शाश्वत, सच्चे निराकुल सुख से अपरिचित हैं, वे ही अज्ञानी इंद्रियजन्य सुख-निमित्तक कर्म को पुण्य और दुःख-निमित्तक कर्म को पाप, ऐसा भेद जानते/मानते हैं ।

बुद्धिमान पुण्य-पाप को एक मानते हैं -

पश्यन्तो जन्मकान्तारे प्रवेशं पुण्य-पापत: ।
विशेषं प्रतिपद्यन्ते न तयो: शुद्धबुद्धय: ॥189॥

अन्वयार्थ : पुण्य-पापत: जन्मकान्तारे प्रवेशं (भवति । एतत्) पश्यन्त: शुद्धबुद्धय: तयो: (पुण्य-पापयो:) विशेषं न प्रतिपद्यन्ते ।
पुण्य-पापरूप कर्म के कारण ही संसाररूपी दुःखद वन में प्रवेश होता है, यह जानकर शुद्धबुद्धिवाले जीव पुण्यपाप में भेद नहीं मानते (दोनों को संसार-वन में भ्रमाने की दृष्टि से समान समझते हैं) ।

आत्मस्वरूप में अवस्थित योगी को मुक्ति की प्राप्ति -

विषय-सुखतो व्यावृत्य स्व-स्वरूपमवस्थितस्त्य ।
जति धिषणां धर्माधर्म-प्रबन्ध-निबन्धिनीम् ॥
जनन-गहने दु:खव्याघ्रे प्रवेशपटीयसीं । ।
कलिल-विकलं लब्ध्वात्मानं स गच्छति निर्वृत्तिम् ॥190॥

अन्वयार्थ : विषय-सुखत: व्यावृत्य स्व-स्वरूपं अवस्थित: (य: योगी) धर्म-अधर्म-प्रबन्ध-निबन्धिनीं दु:ख-व्याघ्रे जनन-गहने प्रवेश-पटीयसीं धिषणां त्यजति स: (योगी) कलिल-विकलं आत्मानं लब्ध्वा निर्वृतिं गच्छति ।
जो योगी विषय-सुख से निवृत्त होकर अपने आत्मस्वरूप में अवस्थित होते हैं और धर्माधर्मरूप पुण्य-पाप के बन्ध की कारणभूत उस बुद्धि का त्याग करते हैं, जो बुद्धि दुःखमय व्याघ्र से व्याप्त गहन संसार-वन में प्रवेश करानेवाली है, वे कर्मरहित विविक्त **अर्थ**ात् शुद्ध आत्मा को पाकर मुक्ति को प्राप्त होते हैं ।

संवर का लक्षण और उसके भेद -

कल्मषागमनद्वार-निरोध: संवरो मत: ।
भाव-द्रव्यविभेदेन द्विविध: कृतसंवरै: ॥191॥

अन्वयार्थ : कृतसंवरै: (अरहंतादिभि:) कल्मष-आगमन-द्वार-निरोध: संवर: भाव-द्रव्य-विभेदेन द्विविध: मतः ।
अपने जीवन में संवर व्यक्त करनेवाले अरहन्तों ने मिथ्यात्वरूप पाप के आगमन के निरोध/रोकने को संवर कहा है । संवर के दो भेद हैं - १. भावसंवर २. द्रव्यसंवर ।

संवर के भेदों का लक्षण -

रोधस्तत्र कषायाणां कथ्यते भावसंवर: ।
दुरितास्रवविच्छेदस्तद्रोधे द्रव्यसंवर: ॥192॥
अन्वयार्थ : तत्र कषायाणां रोध: भावसंवर: कथ्यते । तद्रोधे दुरित-आस्रव-विच्छेद: द्रव्यसंवर: (कथ्यते) ।
मिथ्यात्वादि कषाय परिणामों के निरोध को भावसंवर कहते हैं और मिथ्यात्वादि कषायों के निरोध होने पर ज्ञानावरणादि कर्मों का जो आस्रव **अर्थ**ात् आगमन का विच्छेद होता है, उसे द्रव्यसंवर कहते हैं ।

भाव एवं द्रव्यकर्म के अभाव से पूर्ण शुद्धि -

कषायेभ्यो यत: कर्म कषाया: सन्ति कर्मत: ।
ततो द्वितयविच्छेदे शुद्धिः संपद्यते परा ॥193॥
अन्वयार्थ : यत: कषायेभ्य: कर्म, कर्मत: कषाया: सन्ति । तत: द्वितयविच्छेदे (सति) परा शुद्धि: संपद्यते ।
कषायादि विकारी भावों के निमित्त से द्रव्यकर्म का बन्ध और मोहनीयादि द्रव्यकर्म के उदय/निमित्त से कषायादि भावकर्म उत्पन्न होते हैं । इसलिए भाव तथा द्रव्यकर्मों के विच्छेद **अर्थ**ात् विनाश होने पर आत्मा में परम विशुद्धि/पूर्ण वीतरागता प्रगट होती है ।

मोह से आत्मबोध का नाश -

कषायाकुलितो जीवः परद्रव्ये प्रवर्तते ।
परद्रव्यप्रवृत्तस्य स्वात्मबोध: प्रहीयते ॥194॥
अन्वयार्थ : कषाय-आकुलित: जीव: परद्रव्ये प्रवर्तते । परद्रव्य-प्रवृत्तस्य स्व-आत्मबोध: प्रहीयते ।
कषाय **अर्थ**ात् मोह से आकुलित जीव दुःखी होता है और दुःखी जीव दुःख मिटाने की भावना से परद्रव्य में प्रवृत्त होता है । परद्रव्य में प्रवृत्ति के कारण ही जीव का आत्मज्ञान नष्ट होता है; इसतरह मोह ही आत्मज्ञान के नाश का कारण है ।

आत्मबोध के अभाव से मिथ्यात्ववर्धन -

प्रहीण-स्वात्म-बोधस्य मिथ्यात्वं वर्धते यत: ।
कारणं कर्मबन्धस्य कषायस्त्यज्यते तत: ॥195॥
अन्वयार्थ : यत: प्रहीण-स्व-आत्म-बोधस्य कर्म-बन्धस्य कारणं मिथ्यात्वं वर्धते, तत: कषाय: त्यज्यते ।
जिसका स्वात्मज्ञान विनष्ट होता है, उसका मिथ्यात्व बढ़ता रहता है और मिथ्यात्व से ही ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का दुःखदायक बन्ध होता है । अतः सुख-प्राप्ति के लिये मोह का ही त्याग करना चाहिए ।

कषाय-क्षपण में समर्थ जीव का स्वरूप -

निष्कषायो निरारम्भः स्वान्य-द्रव्यविवेचक: ।
धर्माधर्म-निराकांक्षो लोकाचार-निरुत्सुक: ॥196॥
विशुद्धदर्शन- ज्ञान- चारित्रमयमुज्ज्वलम् ।
यो ध्यायत्यात्मनात्मानं कषायं क्षपयत्यसौ ॥197॥
अन्वयार्थ : निष्कषाय:, निरारम्भ:, स्व-अन्य-द्रव्यविवेचक:, धर्म-अधर्म-निराकांक्ष:, लोकाचार-निरुत्सुक: यः विशुद्ध-दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयं उज्वलं आत्मानं आत्मना ध्यायति असौ कषायं क्षपयति ।
जो साधु कषायहीन **अर्थ**ात् कथंचित् वीतरागी हुए हैं, आरम्भ-परिग्रह से रहित हैं, स्व-परद्रव्य के विवेक को लिये हुए अर्थात् भेदज्ञानी हैं, पुण्य-पापरूप धर्म-अधर्म की आकांक्षा नहीं रखते एवं लोकाचार के विषय में निरुत्सुक अर्थात् उदासीन हैं; इतना ही नहीं जो विशुद्ध दर्शन ज्ञान-चारित्रमय निज निर्मल/शुद्ध आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्याते हैं, वे साधु कषाय को नष्ट करते हैं ।

मूर्त पुद्गलों में राग-द्वेष करना मूढ़बुद्धि -

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्द-युक्तै: शुभाशुभै: ।
चेतनाचेतनैर्मूर्तैरमूर्त: पुद्गलैरयम् ॥198॥
शक्यो नेतुं सुखं-दुखं सम्बन्धाभावत: कथम् ।
रागद्वेषौ यतस्तत्र क्रियेते मूढ़ानसै: ॥199॥

अन्वयार्थ : शुभ-अशुभै: वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्द-युक्तै: चेतन-अचेतनै: मूर्तै: पुद्गलै: अयं अमूर्त: (आत्मा) कथं सुखं दु:खं नेतुं शक्य:? यत: तत्र (मूर्तामूर्तेषु) सम्बन्ध-अभावत: मूढ़-मानसै: (पुद्गलेषु) राग-द्वेषौ क्रियेते ।

सचेतन मूर्तिक पुद्गल **अर्थ**ात् पुत्र-कलत्रादि शरीर के संबंधी और अचेतन मूर्तिक पुद्गल अर्थात् अन्न, वस्त्र, दुकान-मकान आदि जड़ पदार्थों के मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दों से अमूर्तिक आत्मा सुख-दुःख को कैसे प्राप्त कर सकता है? क्योंकि मूर्तिक-अमूर्तिक में परस्पर सम्बन्ध का अभाव है; ऐसा वस्तु-स्वरूप होने पर भी मूढ़बुद्धि जीव मूर्त पुद्गलों में राग-द्वेष करते हैं ।

राग-द्वेष न करने की सहेतुक प्रेरणा -

निग्रहानुग्रहौ कर्तुं कोऽपि शक्तोऽस्ति नात्मन: ।
रोष-तोषौ न कुत्रापि कर्तव्याविति तात्त्विकै: ॥200॥

अन्वयार्थ : आत्मन: निग्रह-अनुग्रहौ कर्तुं क: अपि शक्त: न अस्ति इति तात्त्विकै: कुत्रापि रोष-तोषौ न कर्तव्यौ ।

विश्व में जीवादि अनन्तानन्त द्रव्य हैं, उनमें से कोई भी द्रव्य किसी भी जीव का अच्छा अथवा बुरा करने में समर्थ नहीं है; इसलिए इस वास्तविक तत्त्व के जाननेवाले को जीवादि किसी भी परद्रव्य में राग अथवा द्वेष नहीं करना चाहिए ।

राग-द्वेष किस पर करें?

परस्याचेतनं गात्रं दृश्यते न तु चेतन: ।
उपकारेऽपकारे क्व रज्यते क्व विरज्यते ॥201॥

अन्वयार्थ : परस्य अचेतनं गात्रं (तु) दृश्यते; चेतन: तु न (दृश्यते) । (तत:) उपकारे-अपकारे (सति) क्व रज्यते (च) क्व विरज्यते ?

(उपकार-अपकार न करनेवाला) दूसरे का जड-शरीर तो दिखाई देता है और (उपकार अथवा अपकार करनेवाला) चेतन आत्मा तो दिखाई नहीं देता । इसलिए किसी से भी उपकार अथवा अपकार होने पर किस पर राग किया जाय और किस पर द्वेष?

शरीर का उपकार और अपकार करनेवालों पर राग-द्वेष कैसे?

शत्रव: पितरौ दारा: स्वजना भ्रातरोऽजा: ।
निगृह्णन्त्यनुगृह्णन्ति शरीरं चेतनं न मे ॥202॥
मत्तश्च तत्त्वतो भिन्नं चेतनात्तदचेतनम् ।
द्वेषरागौ तत: कर्तुं युक्तौ तेषु कथं मम ॥203॥

अन्वयार्थ : मत्तः चेतनात् तत् अचेतनं शरीरं तत्त्वतः भिन्नं (अस्ति) । पितरौ दाराः स्वजनाः भ्रातराः (च) अ'जाः शरीरं अनुगृह्णन्ति (च) शत्रवः निगृह्णन्ति, मे चेतनं न; तत: तेषु (स्वजनेषुशत्रुषु च) मम द्वेषरागौ कर्तुं कथं युक्तौ ?

मुझ चेतन आत्मा से जो यह अचेतन शरीर वास्तविक भिन्न है, उस शरीर पर ही ये माता-पिता, स्त्री, भाई, पुत्र, स्वजन उपकार करते हैं और शत्रु अपकार करते हैं; इस कारण स्वजनादि पर राग और शत्रुओं पर द्वेष करना कैसे उचित होगा? क्योंकि ये स्वजनादि और शत्रु मेरे चेतन आत्मा का उपकार अथवा अपकार करते ही नहीं ।

अमूर्त आत्माओं पर अपकार और उपकार कैसे?

पश्याम्यचेतनं गात्रं यतो न पुनरात्मन: ।
निग्रहानुग्रहौ तेषां ततोऽ हं विदधे कथम् ॥204॥

अन्वयार्थ : यत: (अहं शत्रु-स्वजनादीनां) अचेतनं गात्रं पश्यामि,पुन: (तेषाम्) आत्मन: न (पश्यामि), तत: अहं तेषां (स्व-परजनानां)

निग्रह-अनुग्रहौ कथं विदधे ?

क्योंकि मैं उन शत्रु-मित्रादि के अचेतनस्वरूप शरीर को तो देखता हूँ; परन्तु उनकी आत्माओं को देख नहीं पाता, इसलिए मैं उनका अपकार अथवा उपकार कैसे करूँ? **अर्थ**ात् मैं किसी का अच्छा अथवा बुरा कर ही नहीं सकता, यह निर्णय है ।

अपकार और उपकार करने की भावना व्यर्थ -

स्वदेहोऽपि न मे यस्य निग्रहानुग्रहे क्षम: ।

निग्रहानुग्रहौ तस्य कुर्वन्त्यन्ये वृथा मति: ॥205॥

अन्वयार्थ : मे स्वदेह: अपि यस्य (मम आत्मन:) निग्रह-अनुग्रहे क्षम: न तस्य निग्रह-अनुग्रहौ अन्ये कुर्वन्ति (इति) मति: वृथा ।

जहाँ मेरा शरीर भी मुझ आत्मा पर अपकार-उपकार करने में समर्थ नहीं है, वहाँ अन्य कोई जीव अथवा पुद्गल द्रव्य मुझ आत्मा पर अपकार अथवा उपकार करते हैं, यह मान्यता सर्वथा व्यर्थ / असत्य है ।

कोई किसी के गुणों को करने-हरने में समर्थ नहीं -

शक्यन्ते न गुणा: कर्तुं हर्तुन्येन मे यत: ।

कर्तुं हर्तुं परस्यापि न पार्यन्ते गुणा मया ॥206॥

मयान्यस्य ममान्येन क्रियतेऽक्रियते गुण: ।

मिथ्यैषा कल्पना सर्वा क्रियते मोहिभिस्तत: ॥207॥

अन्वयार्थ : यत: मे गुणा: अन्येन कर्तुं हर्तुं न शक्यन्ते (तथा) मया अपि परस्य गुणा: कर्तुं हर्तुं न पार्यन्ते ।

मया अन्यस्य अन्येन मम गुण: क्रियते-अक्रियते एषा सर्वा कल्पना मिथ्या अस्ति तत: मोहिभि: क्रियते ।

कोई भी परद्रव्य मेरे गुणों का हरण नहीं कर सकता, न उनको उत्पन्न कर सकता है । मैं किसी भी परद्रव्य के गुणों को उत्पन्न नहीं कर सकता अथवा उनका नाश भी नहीं कर सकता । इसलिए मैंने किसी पर उपकार अथवा किसी पर अपकार किया, ये सब कल्पनाएँ मिथ्या हैं । मोह **अर्थ**ात् मिथ्यात्व से प्रभावित मिथ्यादृष्टि जीव ही ऐसी खोटी कल्पनाएँ करता है; अन्य ज्ञानी / सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा नहीं करता ।

सम्यग्दर्शनादि पर्यायों का कोई भी कर्ता-हर्ता नहीं -

ज्ञान-दृष्टि-चरित्राणि ह्रियन्ते नाक्षगोचरै: ।

क्रियन्ते न च गुर्वाद्यै: सेव्यमानैरनारतम् ॥208॥

उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति जीवस्य परिणामिन: ।

तत: स्वयं स दाता न, परतो न कदाचन ॥209॥

अन्वयार्थ : ज्ञान-दृष्टि-चारित्राणि अक्षगौचरै: न ह्रियन्ते च अनारतं सेव्यमानै: गुर्वाद्यै: न क्रियन्ते । परिणामिन: जीवस्य (पर्यायत:) तानि उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति । तत: स: (जीव:) कदाचन स्वयं दाता न (अस्ति)। (च) न परत: (तानि उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति च) ।

(स्पर्शनेंद्रियादि) इंद्रियों के विषयों को भोगने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्ररूप पर्यायों का हरन (नाश) नहीं होता । निरन्तर जिनकी सेवा की गई है ऐसे सच्चे गुरु भी अपने शिष्य में सम्यग्दर्शनादि पर्यायों को उत्पन्न नहीं कर सकते । परिणमनशील जीव की ये सम्यग्दर्शनादि पर्यायें स्वयं से उत्पन्न होती हैं और स्वयं विनाश को प्राप्त होती हैं । इसलिए जीव द्रव्य भी इन सम्यग्दर्शनादि पर्यायों का दाता (कर्ता-हर्ता) नहीं है और न कोई परद्रव्य (इन सम्यग्दर्शनादि पर्यायों को उत्पन्न तथा नष्ट करता है) ।

व्यवहारनय से शरीरादि आत्मा के कहे जाते हैं, निश्चयनय से नहीं -

शरीरमिन्द्रियं द्रव्यं विषयो विभवो विभु: ।

ममेति व्यवहारेण भण्यते न च तत्त्वत: ॥210॥

अन्वयार्थ : शरीरं, इन्द्रियं, द्रव्यं, विषय:, विभव: च विभु: मम (अस्ति) इति व्यवहारेण भण्यते तत्त्वत: न (भण्यते) ।

औदारिकादि शरीर, स्पर्शनेन्द्रियादि इन्द्रियाँ, धनादिद्रव्य, स्पर्शादि इन्द्रियों के विषय, अनेक प्रकार का लौकिक वैभव, स्वामी आदि मेरे हैं; ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है; किन्तु तात्त्विक दृष्टि (निश्चयनय) से शरीरादि मेरे (आत्मा के) नहीं हैं ।

निश्चयनय से शरीरादि को आत्मा का मानने से आपत्ति -

तत्त्वतो यदि जायन्ते तस्य ते न तदा भिदा ।
दृश्यते, दृश्यते चासौ ततस्तस्य न ते मता: ॥211॥

अन्वयार्थ : तत्त्वत: यदि ते (शरीरादय:) तस्य (आत्मन:) जायन्ते, तदा भिदा न दृश्यते । दृश्यते च असौ, तत: ते (शरीरादय:) तस्य (आत्मन:) न मता: ।

यदि तत्त्वदृष्टि से **अर्थ**ात् निश्चयनय से ये सब शरीर, इन्द्रिय आदि आत्मा के हैं, ऐसा माना जाये तो आत्मा और शरीर आदि में भेद दिखाई नहीं देना चाहिए; परन्तु इनमें भेद तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है; इसलिए शरीरादि आत्मा के नहीं माने गये हैं ।

दोनों नयों से स्व-पर को जानने का फल -

विज्ञायेति तयोर्द्रव्यं परं स्वं मन्यते सदा ।
आत्म-तत्त्वरतो योगी विदधाति स संवरम् ॥212॥

अन्वयार्थ : इति तयो: (आत्म-शरीरयो: भेदं) विज्ञाय सदा स्वं द्रव्यं (स्वं)परं-परं, मन्यते, स: आत्म-तत्त्वरत: योगी संवरं विदधाति ।

इसप्रकार व्यवहार तथा निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा और शरीरादि दोनों के भेद को जानकर जो योगी सदा स्वद्रव्य को स्व के रूप में और परद्रव्य को पर के रूप में मानते हैं, वे आत्मतत्त्व में लीन हुए योगी सदा संवर करते हैं/**अर्थ**ात् कर्मों के आस्रव को रोकते हैं ।

पर्याय-अपेक्षा से कर्मफल भोगने का स्वरूप -

विदधाति परो जीव: किंचित्कर्म शुभाशुभम् ।
पर्यायापेक्षया भुक्ते फलं तस्य पुन: पर: ॥213॥

अन्वयार्थ : पर्याय-अपेक्षया पर: (एक:) जीव: किंचित् शुभ-अशुभं कर्म विदधाति पुन: परः (अन्य: जीव:) तस्य फलं भुक्ते ।

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अन्य जीव कुछ शुभ-अशुभ कर्म करता है और उसका फल अन्य जीव भोगता है ।

द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा फल भोगने की व्यवस्था -

य एव कुरुते कर्म किंचिज्जीव: शुभाशुभम् ।
स एव भजते तस्य द्रव्यार्थापेक्षया फलम् ॥214॥

अन्वयार्थ : द्रव्यार्थ-अपेक्षया य: एव जीव: किंचित् शुभ-अशुभं कर्म कुरुते, स: एव (जीव:) तस्य फलं भजते ।

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से जो जीव जो कुछ शुभ-अशुभ कर्म करता है, वही (जीव) उसका फल भोगता है ।

पर्याय एवं द्रव्य अपेक्षा का उदाहरण -

मनुष्य: कुरुते पुण्यं देवो वेदयते फलम् ।
आत्मा वा कुरुते पुण्यमात्मा वेदयते फलम् ॥215॥

अन्वयार्थ : (यथा) मनुष्य: पुण्यं कुरुते देव: फलं वेदयते । वा आत्मा पुण्यं कुरुते आत्मा (एव) फलं वेदयते ।

जैसे मनुष्य पुण्य कर्म करता है और देव उसका फल भोगता है अथवा आत्मा पुण्य-कर्म करता है और आत्मा ही उसके फल को भोगता है ।

द्रव्य-पर्याय अपेक्षा से जीव का स्वरूप -

नित्यानित्यात्मके जीवे तत्सर्वुपपद्यते ।

न किंचिद् घटते तत्र नित्येऽनित्ये च सर्वथा ॥216॥

अन्वयार्थ : नित्य-अनित्यात्मके जीवे तत् (पूर्वोक्तं) सर्वं उपपद्यते । च सर्वथा नित्ये-अनित्ये तत्र किंचित् (अपि) न घटते ।

जीव को कथंचित् नित्य अनित्य मानने पर उक्त सब कथन ठीक / योग्य घटित हो जाता है, सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य मानने पर कुछ भी घटित नहीं होता ।

जीव औदयिक भावों के द्वारा कर्म का कर्ता एवं भोक्ता -

चेतन: कुरुते भुक्ते भावैरौदयिकैरयम् ।

न विधत्ते न वा भुक्ते किंचित्कर्म तदत्यये ॥217॥

अन्वयार्थ : अयं चेतन: औदयिकै: भावै: (कर्म) कुरुते (च) भुक्ते । तदत्यये (तस्य औदयिकभावस्य अत्यये) किंचित् कर्म न विधत्ते वा न भुक्ते ।

यह चेतन (जीव) औदयिक भावों के द्वारा (कर्मों के उदय का निमित्त पाकर) उत्पन्न होनेवाले परिणामों के सहयोग से कर्म करता है और उसका फल भोगता है । औदयिकभावों का अभाव होने पर वह कोई कर्म नहीं करता और कोई फल नहीं भोगता है ।

जीव का इंद्रिय-विषय कुछ नहीं करते -

पञ्चाक्षविषया: किंचित् नास्य कुर्वन्त्यचेतना: ।

मन्यते स विकल्पेन सुखदा दु:खदा मम ॥218॥

अन्वयार्थ : अचेतना: पञ्च-अक्ष-विषया: अस्य (चेतनस्य) किंचित् (अपि उपकारं अपकारं) न कुर्वन्ति । स: (चेतन:) विकल्पेन (तान् विषयान्) मम सुखदा: दु:खदा: इति मन्यते ।

पाँचों इन्द्रियों के स्पर्शादि विषय, जो कि अचेतन हैं, इस आत्मा का कुछ भी उपकार या अपकार नहीं करते । आत्मा विकल्प बुद्धि से / भ्रमवश उन्हें अपने सुखदाता तथा दुःखदाता मानता है ।

संकल्प बिना द्रव्य, गुण, पर्याय इष्टानिष्ट नहीं -

न द्रव्यगुणपर्याया: संप्राप्ता बुद्धिगोचरम् ।

इष्टानिष्टाय जायन्ते संकल्पेन विना कृता: ॥219॥

अन्वयार्थ : बुद्धिगोचरं सम्प्राप्ता: द्रव्य-गुण-पर्याया: संकल्पेन विना कृता: इष्ट-अनिष्टाय न जायन्ते ।

संकल्प (भ्रान्त कल्पना) के बिना विश्वस्थित बुद्धिगोचर संपूर्ण द्रव्य, गुण, पर्यायों में से कोई भी द्रव्य, गुण अथवा पर्याय इष्ट / सुखदायक या अनिष्ट / दुःखदायक नहीं होते ।

वचनों से कोई निंद्य अथवा स्तुत्य नहीं होता -

न निन्दा-स्तुति-वाक्यानि श्रूयमाणानि कुर्वते ।

संबन्धाभावत: किंचिद् रुष्यते तुष्यते वृथा ॥220॥

अन्वयार्थ : श्रूयमाणानि निन्दा-स्तुति-वाक्यानि सम्बन्ध-अभावत: (चेतनस्य) किंचित् न कुर्वते (मूढ: तेषु) वृथा रुष्यते तुष्यते ।

सुनने को मिले हुए निन्दा अथवा स्तुतिरूप वचन जीव का कुछ भी अच्छा-बुरा नहीं करते; क्योंकि वचनों का जीव के साथ सम्बन्ध नहीं है । अज्ञानी जीव निन्दा अथवा स्तुतिरूप वचनों को सुनकर व्यर्थ ही राग-द्वेष करते हैं ।

मोह से बाह्य पदार्थ सुख-दुःखदाता -

आत्मन: सकलं बाह्यं शर्माशर्मविधायकम् ।

क्रियते मोहदोषेणापरथा न कदाचन ॥221॥

अन्वयार्थ : मोह-दोषेण सकलं बाह्यं आत्मन: शर्म-अशर्म-विधायकं क्रियते । अपरथा कदाचन न (क्रियते) ।

मोहरूपी दोष के कारण ही संपूर्ण बाह्य पदार्थ जीव को सुख-दुःख देने में निमित्त बनते हैं अन्यथा मोहरूपी दोष न हो तो कोई भी बाह्य पदार्थ किसी भी जीव को किंचित् मात्र भी सुख-दुःख देने में निमित्त नहीं होते । (इसका **अर्थ** मोह ही सुख-दुःखदाता है ।)

मोह से बाह्य पदार्थ सुख-दुःखदाता -

नाञ्जसा वचसा कोऽपि निन्द्यते स्तूयतेऽपि वा ।
निन्दितोऽहं स्तुतोऽहं वा मन्यते मोहयोगत: ॥222॥

अन्वयार्थ : अञ्जसा वचसा क: अपि (जीव:) न निन्द्यते वा (न) स्तूयते अपि; अहं निन्दित: अहं वा स्तुत: (इति) मोहयोगत: मन्यते ।
वास्तविक देखा जाय तो वचनों से कोई निंद्य अथवा स्तुत्य नहीं होता । मोह **अर्थ**ात् मिथ्यादर्शन के कारण अज्ञानी 'मेरी निन्दा हो गयी अथवा मैं स्तुत्य बन गया' ऐसा व्यर्थ ही मान लेता है ।

परद्रव्य के गुण-दोषों से जीव को हर्ष-विषाद नहीं -

नानन्दो वा विषादो वा परे संक्रान्त्यभावत: ।
परदोष-गुणैर्नूनं कदाचित् न विधीयते ॥223॥

अन्वयार्थ : पर-दोष-गुणै: परे संक्रांन्त्यभावत: आनन्द: वा विषाद: वा कदाचित् नूनं न विधीयते ।
पुद्गलादि अन्य द्रव्य के गुण-दोषों से जीव को हर्ष-विषाद (सुख-दुःख) नहीं होते; क्योंकि किसी भी परद्रव्य के गुण अथवा दोषों का जीव द्रव्य में संक्रमण (प्रवेश) ही नहीं होता ।

इष्टानिष्ट चिन्तन की निरर्थकता -

अयं मेऽ निष्टमिष्टं वा ध्यायतीति वृथा मति: ।
पीड्यते पाल्यते वापि न पर: परचिन्तया ॥224॥

अन्वयार्थ : अयं मे इष्टं वा अनिष्टं वा ध्यायति इति मति: वृथा (वर्तते; यत:) परचिन्तया पर: न पीड्यते न वा अपि पाल्यते ।
यह मेरे अहित का चिन्तन करता है और यह मेरे हित का चिन्तन करता है, इसप्रकार का विचार निरर्थक है; क्योंकि एक के चिन्तन से किसी दूसरे का पीडित होना अथवा रक्षित होना बनता ही नहीं ।

विकल्पों की निरर्थकता -

अन्योऽन्यस्य विकल्पेन वर्द्ध्यते हाप्यते यदि ।
न सम्पत्तिर्विपत्तिर्वा तदा कस्यापि हीयते ॥225॥

अन्वयार्थ : यदि अन्यस्य विकल्पेन अन्य: वर्द्ध्यते हाप्यते; वा तदा कस्यापि सम्पत्ति: विपत्ति: वा न हीयते ।
यदि एक जीव के विकल्पानुसार दूसरा जीव हानि-अथवा वृद्धि को प्राप्त होता है, ऐसा मान लिया जाय तो किसी भी जीव की सम्पत्ति अथवा विपत्ति कभी क्षीण नहीं होगी ।

कोई भी द्रव्य इष्ट-अनिष्ट नहीं -

इष्टोऽपि मोहतोऽनिष्टो भावोऽनिष्टस्तथा पर: ।
न द्रव्यं तत्त्वत: किंचिदिष्टानिष्टं हि विद्यते ॥226॥

अन्वयार्थ : मोहत: इष्ट: भाव: अपि अनिष्ट: तथा अनिष्ट: पर: (इष्ट:) मन्यते । तत्त्वत: किंचित् (अपि) द्रव्यं इष्ट-अनिष्टं न हि विद्यते ।
मोह के कारण (अज्ञानी जीव जिस वस्तु को पहले) इष्ट मानता था, (कुछ काल व्यतीत हो जाने पर) उसी वस्तु को अनिष्ट मानने लगता है और जिस वस्तु को पहले अनिष्ट मानता था, उसी वस्तु को इष्ट मानने लगता है । वास्तव में (अज्ञानी की इस प्रवृत्ति के कारण यह वास्तविक बात स्पष्ट हो जाती है कि) संसार में कोई भी वस्तु इष्ट या अनिष्ट नहीं है ।

सम्यक् श्रद्धानादि में जीव स्वयं प्रवृत्त होता है -

रत्नत्रये स्वयं जीव: पावने परिवर्तते ।

निसर्गनिर्मलः शङ्ख: शुक्लत्वे केन वर्त्यते ॥227॥

अन्वयार्थ : (यथा) निसर्ग-निर्मल: शङ्ख: शुक्लत्वे केन वर्त्यते ? (अन्येन न वर्त्यते तथा) जीव: पावने रत्नत्रये (अपि) स्वयं परिवर्तते ।

जैसे स्वभाव से निर्मल शंख स्वयं अपने स्वभाव से ही शुक्लता में परिवर्तित होता है, अन्य किसी से नहीं; वैसे जीव पवित्र रत्नत्रय की आराधना में स्वयं प्रवृत्त होता है; अन्य किसी से नहीं ।

मिथ्याश्रद्धादि में जीव, स्वयं प्रवृत्त होता है -

स्वयमात्मा परं द्रव्यं श्रद्धते वेत्ति पश्यति ।

शङ्ख-चूर्ण: किमाश्रित्य धवलीकुरुते परम् ॥228॥

अन्वयार्थ : (यथा) शङ्ख-चूर्ण: किम् आश्रित्य परं धवली कुरुते ? (स्व आश्रित्य एव; तथा) आत्मा स्वयं (पराश्रयं विना) परं द्रव्यं पश्यति वेत्ति श्रद्धत्ते ।

जैसे शंख का चूर्ण किसी भी अन्य का आश्रय न लेकर स्वयं दूसरे को धवल करता है; वैसे आत्मा स्वयं परद्रव्य को देखता, जानता और श्रद्धान करता है ।

जीव की मलिनता में मोह ही निमित्त, स्वभाव नहीं -

मोहेन मलिनो जीव: क्रियते निजसंगत: ।

स्फटिको रक्त-पुष्पेण रक्ततां नीयते न किम् ॥229॥

अन्वयार्थ : (यथा) रक्त-पुष्पेण किं स्फटिक: रक्ततां न नीयते? (तथा) मोहेन निजसंगत: जीव: मलिन: क्रियते ।

जैसे लाल फूल के साथ संगति करने से ही स्वभाव से स्वच्छ / निर्मल स्फटिक लाल होता है; वैसे मोह के साथ संगति करने से ही शुद्ध-स्वभावी जीव मलिन होता है ।

मोह का नाश होने पर स्वरूप की उपलब्धि -

निजरूपं पुनर्याति मोहस्य विगमे सति ।

उपाध्यभावतो याति स्फटिक: स्वस्वरूपताम् ॥230॥

अन्वयार्थ : (यथा) उपाधि-अभावत: स्फटिक: स्वस्वरूपतां याति (तथा) मोहस्य विगमे सति (जीव:) निजरूपं पुन: याति ।

जिसप्रकार लालपुष्पादिरूप संयोगस्वरूप उपाधि का अभाव हो जाने से स्फटिक अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होता है; उसीप्रकार मोह का नाश हो जाने पर जीव पुनः अपने निर्मलस्वरूप को प्राप्त होता है ।

मोह का त्यागी साधक ही कर्मों का संवर करता है -

इत्थं विज्ञाय यो मोहं दु:खबीजं विमुञ्चति ।

सोऽ न्यद्रव्यपरित्यागी कुरुते कर्म-संवरम् ॥231॥

अन्वयार्थ : इत्थं विज्ञाय य: दु:ख-बीजं मोहं विमुञ्चति; स: अन्य-द्रव्य-परित्यागी कर्म-संवरं कुरुते ।

इसप्रकार मोह को दुःख का बीज जानकर जो साधक मोह को छोड़ता है, वह परद्रव्य का त्यागी होता हुआ कर्मों का संवर करता है **अर्थ**ात् कर्मों के आस्रव को रोकता है ।

राग-द्वेष सहित तप से शुद्धि नहीं -

शुभाशुभ-पर-द्रव्य-रागद्वेष-विधायिन: ।

न जातु जायते शुद्धि: कुर्वतोऽपि चिरं तप: ॥232॥

अन्वयार्थ : शुभ-अशुभ-पर-द्रव्य-राग-द्वेष-विधायिन: चिरं तप: कुर्वत: अपि शुद्धि: जातु न जायते ।
शुभ-अशुभरूप **अर्थ**ात् अनुकूल-प्रतिकूल लगनेवाले परद्रव्य को सुख-दुःखदाता मानकर राग-द्वेष करनेवाले जीव के चिरकाल पर्यंत बाह्य तपश्चरण करने पर भी उसे कभी शुद्धि अर्थात् वीतरागता / सच्चा धर्म प्रगट नहीं होता ।

कर्म का कर्ता-भोक्ता जीव, कर्मों को बाँधता है -

कुर्वाण: कर्म चात्मायं भुञ्जान: कर्मणां फलम् ।
अष्टधा कर्म बध्नाति कारणं दु:खसन्तते: ॥233॥

अन्वयार्थ : कर्म कुर्वाण:, कर्मणां च फलं भुञ्जान: अयं आत्मा दु:ख-सन्तते: कारणं अष्टधा कर्म बध्नाति ।
यह अज्ञानी जीव शुभाशुभ परिणामस्वरूप कर्म करता हुआ और पुण्य-पापरूप कर्मों के अनुकूल-प्रतिकूल कर्म-फल को भोगता हुआ दुःख परम्परा का कारण ज्ञानावरणादि आठ प्रकार का नवीन कर्म बांधता है ।

ज्ञाता-दृष्टा रहना मोक्षमार्ग है -

सर्वं पौद्गलिकं वेत्ति कर्मपाकं सदापि य: ।
सर्व-कर्म-बहिर्भूतमात्मानं स प्रपद्यते ॥234॥

अन्वयार्थ : य: (ज्ञानी) सर्वं कर्मपाकं अपि सदा पौद्गलिकं वेत्ति । स: सर्व-कर्म-बहिर्भूतं आत्मानं प्रपद्यते ।
जो ज्ञानी जीव, पुण्य-पापरूप संपूर्ण कर्मों के इष्टानिष्ट फल को सदाकाल पुद्गल से उत्पन्न हुआ जानता-मानता है, वह सर्व कर्मों से रहित सिद्ध-समान अपनी (भावी) आत्म-अवस्था को (क्रम से) प्राप्त होता है ।

ज्ञानी मात्र ज्ञाता-दृष्टा -

ज्ञानवांश्चेतनः शुद्धो न गृह्णाति न मुञ्चति ।
गृह्णाति मुञ्चते कर्म मिथ्याज्ञान-मलीमस: ॥235॥

अन्वयार्थ : शुद्ध: ज्ञानवान्-चेतन: (कर्म) न गृह्णाति न मुञ्चति। मिथ्याज्ञान-मलीमस: (जीव: एव) कर्म गृह्णाति (च) मुञ्चते ।
जो आत्मा शुद्ध ज्ञानवान **अर्थ**ात् सम्यग्ज्ञानी है, वह परद्रव्य को न ग्रहण करता है और न छोड़ता है । जो मिथ्याज्ञान से मलिन है, वह अज्ञानी जीव कर्म अर्थात् परद्रव्य को ग्रहण करता है तथा छोड़ता है ।

सामायिक आदि में प्रवर्तमान साधु को संवर होता है -

सामायिके स्तवे भक्त्या वन्दनायां प्रतिक्रमे ।
प्रत्याख्याने तनूत्सर्गे वर्तमानस्य संवर: ॥236॥

अन्वयार्थ : भक्त्या सामायिके, स्तवे, वन्दनायां, प्रतिक्रमे, प्रत्याख्याने, (च) तनूत्सर्गे वर्तमानस्य (साधो:) संवर: (जायते) ।
जो साधु भक्तिपूर्वक सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग में प्रवर्तन करते हैं, उनके संवर **अर्थ**ात् कर्मास्रव का निरोध होता है ।

सामायिक का स्वरूप -

यत् सर्व-द्रव्य-संदर्भे राग-द्वेष-व्यपोहनम् ।
आत्मतत्त्व-निविष्टस्य तत्सामायिकमुच्यते ॥237॥

अन्वयार्थ : आत्मतत्त्व-निविष्टस्य (साधो:) सर्व-द्रव्य-संदर्भे यत् राग-द्वेष व्यपोहनं (अस्ति), तत् सामायिकं उच्यते ।
निज शुद्धात्मतत्त्व में मग्न/लीन मुनिराज के जीवादि सर्व द्रव्यों के सम्बन्ध में जो राग-द्वेष का परित्याग **अर्थ**ात् वीतरागभाव है, उसे सामायिक कहते हैं ।

स्तव का स्वरूप -

रत्नत्रयमयं शुद्धं चेतनं चेतनात्मकम् ।

विविक्तं स्तुवतो नित्यं स्तवजैः स्तूयते स्तवः ॥238॥

अन्वयार्थ : (साधव:) चेतनात्मकं रत्नत्रयमयं शुद्धं विविक्तं चेतनं नित्यं स्तुवत: स्तवजै: स्तव: स्तूयते ।

निजशुद्धात्म तत्त्व में लीन मुनिराज चेतन गुण विशिष्ट, रत्नत्रयमय और कर्मरूपी कलंक से रहित शुद्ध चेतन द्रव्य की जो नित्य स्तुति करते हैं, उस स्तुति को स्तव-मर्मज्ञों ने स्तव कहा है ।

वन्दना का स्वरूप -

पवित्र- दर्शन- ज्ञान- चारित्रमयमुत्तमम् ।

आत्मानं वन्द्यमानस्य वन्दनाकथि कोविदैः ॥239॥

अन्वयार्थ : वन्द्यमानस्य पवित्र-दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयं उत्तमं आत्मानं (योगिन:) कोविदै: वन्दना अकथि ।

(१) मुनिराज जब पवित्र **अर्थ**ात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र को प्राप्त शुद्धात्मा को नमस्कार करते हैं, तब उस नमस्कार करनेरूप शुभक्रिया और शुभ परिणाम को विज्ञ/तत्त्वज्ञ पुरुष (व्यवहार से) वन्दना कहते हैं ।

प्रतिक्रमण का स्वरूप -

कृतानां कर्मणां पूर्वं सर्वेषां पाकमीयुषाम् ।

आत्मीयत्व-परित्याग: प्रतिक्रमणमीर्यते ॥240॥

अन्वयार्थ : पूर्वं कृतानां पाकं ईयुषां (च) सर्वेषां कर्मणां आत्मीयत्व-परित्याग: प्रतिक्रमणं ईर्यते ।

पूर्व **अर्थ**ात् भूतकाल में स्वयं किये हुए (पुण्य-पापरूप भावकर्मों से प्राप्त) द्रव्यकर्मों के उदय से प्राप्त फल पुण्य-पापरूप भाव - इन सब द्रव्य-भावकर्मों के सम्बन्ध में अपनेपन के सर्वथा त्याग को प्रतिक्रमण कहते हैं ।

प्रत्याख्यान का स्वरूप -

आगाम्यागो निमित्तानां भावानां प्रतिषेधनम् ।

प्रत्याख्यानं समादिष्टं विविक्तात्म-विलोकिनः ॥241॥

अन्वयार्थ : विविक्त-आत्म-विलोकिन: आगाम्याग: निमित्तानां भावानां प्रतिषेधनं प्रत्याख्यानं समादिष्टं ।

शुद्धात्मा के अनुभवी जीव भविष्यकाल में उत्पन्न होनेवाले पुण्य-पापरूप द्रव्य कर्मों का और उनके निमित्त से होनेवाले भावी पुण्य-पापरूप परिणामों का त्याग करते हैं, उस त्याग को प्रत्याख्यान कहते हैं ।

कायोत्सर्ग का स्वरूप -

ज्ञात्वा योऽ चेतनं कायं नश्वरं कर्म-निर्मितम् ।

न तस्य वर्तते कार्ये कायोत्सर्गं करोति सः ॥242॥

अन्वयार्थ : य: (योगी) कायं अचेतनं नश्वरं (च) कर्म-निर्मितं ज्ञात्वा तस्य कार्ये न वर्तते स: कायोत्सर्गं करोति ।

काय **अर्थ**ात् शरीर को अचेतन, नाशवान एवं कर्म से उत्पन्न जानकर उस शरीर के कार्य में मुनिराज प्रवृत्त नहीं होते, अर्थात् शरीर का कर्ता अपने को नहीं मानते (केवल ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं) इस अकर्तापन को ही कायोत्सर्ग कहते हैं ।

संवरक योगी का स्वरूप -

यः षडावश्यकं योगी स्वात्मतत्त्व-व्यवस्थितः ।

अनालस्यः करोत्येव संवृतिस्तस्य रेफसाम् ॥243॥

अन्वयार्थ : स्व-आत्म-तत्त्व-व्यवस्थित: अनालस्य: य: योगी षट् आवश्यकं करोति तस्य एव रेफसां (पुण्य-पाप-कर्मणां) संवृति: (जायते) ।

जो योगी **अर्थ**ात् मुनिराज निज शुद्धात्म तत्त्व में विशेषरूप से अवस्थित अर्थात् लीन रहते हैं और प्रमाद से रहित होकर सामायिक आदि षट् आवश्यकों को करते हैं, उनके पुण्य-पापरूप कर्मों का संवर होता है ।

आत्मज्ञानी ही संवर करते हैं, अन्य नहीं -

मिथ्याज्ञानं परित्यज्य सम्यग्ज्ञानपरायणः ।
आत्मनात्मपरिज्ञायी विधत्ते रोधमेनसाम् ॥244॥

अन्वयार्थ : मिथ्याज्ञानं परित्यज्य सम्यग्ज्ञानपरायण:, आत्मना आत्म-परिज्ञायी (योगी) एनसां रोधं विधत्ते ।

मिथ्याज्ञान का विशेषरूप से त्याग कर जो साधक सम्यग्ज्ञान में तत्पर **अर्थ**ात् आत्मज्ञान में लीन रहते हैं तथा आत्मा से आत्मा को जानते हैं, वे कर्मों का निरोध अर्थात् संवर करते हैं ।

भोक्ता-अभोक्ता का निर्णय -

द्रव्यतो भोजकः कश्चिद्भावतोऽस्ति त्वभोजकः ।
भावतो भोजकस्त्वन्यो द्रव्यतोऽस्ति त्वभोजकः ॥245॥

अन्वयार्थ : कश्चित् (ज्ञानी जीव:) द्रव्यत: भोजक: भावत: तु अभोजक: अस्ति । अन्य: (अज्ञानी जीव:) तु भावत: भोजक: द्रव्यत: तु अभोजक: अस्ति ।

कोई ज्ञानी जीव द्रव्य से भोक्ता है, वही जीव भाव से अभोक्ता है । दूसरा मिथ्यादृष्टि/अज्ञानी जीव भाव से भोक्ता है और वही जीव द्रव्य से अभोक्ता है ।

कौन किससे पूजनीय -

द्रव्यतो यो निवृत्तोऽस्ति स पूज्यो व्यवहारिभिः ।
भावतो यो निवृत्तोऽसौ पूज्यो मोक्षं यियासुभिः ॥246॥

अन्वयार्थ : य: द्रव्यत: निवृत्त: स: व्यवहारिभि: पूज्य: अस्ति । य: भावत: निवृत्त: असौ मोक्षं यियासुभि: पूज्य: (अस्ति) ।

जो द्रव्य से निवृत्त **अर्थ**ात् अभोजक हैं वे व्यवहारियों से पूज्य हैं । जो भाव से निवृत्त अर्थात् अभोजक/अभोक्ता हैं, वे मुमुक्षुओं से पूज्य/पूजा को प्राप्त होते हैं ।

भावपूर्वक त्याग से संवर -

द्रव्यमात्रनिवृत्तस्य नास्ति निर्वृतिरेनसाम् ।
भावतोऽस्ति निवृत्तस्य तात्त्विकी संवृति: पुनः ॥247॥

अन्वयार्थ : द्रव्य-मात्र-निवृत्तस्य (जीवस्य) एनसां निवृत्ति: न अस्ति । पुन: भावत: निवृत्तस्य (जीवस्य) तात्विकी संवृति: अस्ति ।

जो जीव अन्तरंग परिणाम के बिना मात्र बाहर से ऊपर-ऊपर से भोग्य वस्तु का त्याग करते हैं, उनके कर्मों का संवर नहीं होता और जो जीव अन्तरंग परिणाम से **अर्थ**ात् भाव से / मनःपूर्वक भोग्य वस्तु का त्याग करते हैं; उनके कर्मों का संवर होता है ।

भाव से निवृत्त होने की प्रेरणा -

विज्ञायेति निराकृत्य निवृत्तिं द्रव्यतस्त्रिधा ।
भाव्यं भाव-निवृत्तेन समस्तैनो निषिद्धये ॥248॥

अन्वयार्थ : इति निवृत्तिं विज्ञाय द्रव्यत: त्रिधा निराकृत्य समस्त-एन: निषिद्धये (त्रिधा) भाव-निवृत्तेन भाव्यम् ।

इसप्रकार द्रव्य-भावरूप दोनों निवृत्ति को **अर्थ**ात् त्याग को यथार्थ जानकर और द्रव्य निवृत्ति को मन-वचन-काय से छोड़कर अर्थात् उपादेय न मानकर / हेय मानकर ज्ञानावरणादि समस्त कर्मों को दूर करने के लिये त्रियोगपूर्वक भाव से निवृत्त होना चाहिए ।

शरीरात्मक लिंग से मुक्ति नहीं -

शरीरमात्मनो भिन्नं लिंगं येन तदात्मकम् ।
न मुक्तिकारणं लिंगं जायते तेन तत्त्वतः ॥249॥
यन्मुक्तिं गच्छता त्याज्यं न मुक्तिर्जायते ततः ।
अन्यथा कारणं कर्म तस्य केन निवर्तते ॥250॥

अन्वयार्थ : येन शरीरं आत्मनः भिन्नं तदात्मकं लिंगं (च) तेन तत्त्वत: लिंगं मुक्ति-कारणं न जायते । मुक्तिं गच्छता यत् (लिंगं) त्याज्यं (अस्ति) तत: मुक्ति: न जायते; अन्यथा तस्य (लिंगस्य) कारणं कर्म केन निवर्तते ?

शरीर आत्मा से भिन्न है और लिंग शरीरात्मक है; इसलिए वस्तुतः लिंग मुक्ति का कारण नहीं होता । जो शरीर/लिंग मुक्ति को जानेवालों से त्याज्य हैं, उस शरीर से मुक्ति नहीं होती । यदि लिंग को मुक्ति का कारण माना जायेगा तो लिंग के लिये कारण होनेवाले नामकर्म को किस साधन से दूर किया जायेगा ?

मुमुक्षु के लिए हेय तथा उपादेय तत्त्व -

अचेतनं ततः सर्वं परित्याज्यं मुमुक्षुणा ।
चेतनं सर्वदा सेव्यं स्वात्मस्थं संवरार्थिना ॥251॥

अन्वयार्थ : तत: संवरार्थिना मुमुक्षुणा सर्वं अचेतनं परित्याज्यं (च) स्व-आत्मस्थं चेतनं सर्वदा सेव्यं ।

अतः जो मोक्ष का अभिलाषी एवं संवर का **अर्थ**ी है, उसके लिये समस्त अचेतन पदार्थ समूह त्यजनीय (हेय) है और अपना अनादि-अनंत चेतनरूप जीव तत्त्व सदा ही ध्येयरूप से सेवनीय (उपादेय) है ।

शीघ्र संवर करनेवालों का परिचय -

आत्मतत्त्वमपहस्तित-रागं ज्ञान-दर्शन-चरित्रमयं य: ।
मुक्तिमार्गवगच्छति योगी संवृणोति दुरितानि स सद्यः ॥252॥

अन्वयार्थ : य: योगी अपहस्तितरागं आत्म-तत्त्वं, च ज्ञान-दर्शन-चारित्रमयं मुक्तिमार्गं (च) अवगच्छति स: सद्य: दुरितानि (कर्माणि) संवृणोति ।

जो योगी (महामुनिराज) राग-रहित (वीतरागस्वभावी) त्रिकाली निज शुद्ध आत्मतत्त्वरूप द्रव्य को और सम्यक्ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मोक्षमार्ग (स्वरूप पर्याय) को जानते (पहिचानते) हैं, वे कर्मों का शीघ्र (पूर्ण) संवर करते हैं ।

निर्जरा का लक्षण और भेद -

पूर्वोपार्जित-कर्मैक-देश-संक्षय-लक्षणा ।
निर्जरा जायते द्वेधा पाकजापाकजात्वतः ॥253॥

अन्वयार्थ : पूर्व-उपार्जित-कर्म-एकदेश-संक्षय-लक्षणा निर्जरा; (या) पाकजा-अपाकजात्वत: द्विधा जायते ।

पूर्व (पहले / भूतकालीन जीवन में) बन्धे हुए ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का आंशिक विनाश हो जाना जिसका लक्षण है, उसे निर्जरा कहते हैं; उसके पाकजा निर्जरा और अपाकजा निर्जरा इसतरह दो भेद हैं ।

दोनों निर्जरा का स्वरूप -

प्रक्षयः पाकजातायां पक्वस्यैव प्रजायते ।
निर्जरायामपक्वायां पक्वापक्वस्य कर्मणः ॥254॥

अन्वयार्थ : पाकजातायां पक्वस्य एव (कर्मण:) प्रक्षय: जायते । अपक्वायां निर्जरायां पक्व-अपक्वस्य कर्मण: (प्रक्षय: प्रजायते) ।

पाकजा निर्जरा में पके हुए (उदय काल को प्राप्त) ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का विनाश होता है । अपाकजा निर्जरा में पके-अपके (काल

प्राप्त-अकालप्राप्त दोनों प्रकार के) ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का विनाश होता है ।

अपाकजा निर्जरा का उदाहरण -

शुष्काशुष्का यथा वृक्षा दह्यन्ते दव-वह्निना ।
पक्वापक्वास्तथा ध्यान-प्रक्रमेणाघसंचयाः ॥255॥

अन्वयार्थ : यथा दव-वह्निना शुष्क-अशुष्का: वृक्षा: दह्यन्ते; तथा ध्यानप्रक्रमेण पक्व-अपक्वा: अघसंचया: (दह्यन्ते) ।

जिसप्रकार दावानलरूपी अग्नि से सूखे वृक्षों की तरह गीले वृक्ष भी जलकर नष्ट होते हुए राख बन जाते हैं; उसीप्रकार अत्यन्त निर्मल ध्यानरूपी अग्नि से कालप्राप्त तथा अकालप्राप्त कर्मसमूह भस्म हो जाते हैं ।

ध्यान से ही सर्वोत्तम निर्जरा -

दूरीकृत-कषायस्य विशुद्धध्यानलक्षण: ।
विधत्ते प्रक्रमः साधोः कर्मणां निर्जरां पराम् ॥256॥

अन्वयार्थ : दूरीकृतकषायस्य साधो: विशुद्ध-ध्यान-लक्षण: प्रक्रम: कर्मणां परां निर्जरां विधत्ते ।

जिन मुनिराज ने क्रोधादि कषाय परिणामों को दूर किया है, उन मुनिराज ने विशुद्धध्यानरूप लक्षणवाला प्रक्रम (उपक्रम / कार्य) किया है (यह कार्य ही भावनिर्जरा है); इससे ज्ञानावरणादि आठों द्रव्यकर्मों की सर्वोत्तम निर्जरा होती है ।

सर्वोत्तम निर्जरा का स्वामी -

आत्मतत्त्वरतो योगी कृत-कल्मष-संवरः ।
यो ध्याने वर्तते नित्यं कर्म निर्जीर्यतेऽमुना ॥257॥

अन्वयार्थ : यः कृत-कल्मष संवर: आत्म-तत्त्व-रत: योगी नित्यं ध्याने वर्तते अमुना कर्म निर्जीर्यते ।

जो मुनिराज निज शुद्ध आत्मतत्त्व में सदा लवलीन रहते हैं, जिन्होंने सकल कषाय-नोकषायरूप पाप का संवर किया है तथा जो सदा मात्र ध्यान में प्रवृत्त रहते हैं, वे ही कर्मों की उत्कृष्ट निर्जरा करते हैं, अन्य कोई नहीं ।

संवर के बिना निर्जरा नहीं -

संवरेण बिना साधोर्नास्ति पातकनिर्जरा ।
नूतनाम्भ:प्रवेशोऽस्ति सरसो रिक्तता कुतः ॥258॥

अन्वयार्थ : (यथा) नूतन-अम्भ:प्रवेश: अस्ति (तर्हि) सरस: रिक्तता कुत: (जायते) ? (तथा) संवरेण बिना साधो: (कर्मणां) पातक-निर्जरा न अस्ति ।

जैसे सरोवर में नये जल के प्रवेश को रोके बिना सरोवर को जल से रहित नहीं किया जा सकता, वैसे ही (मिथ्यात्वादि के) संवर के बिना साधु के पाप कर्मों की अपाकजा (अविपाक) निर्जरा नहीं हो सकती ।

एकाग्र चित्त साधु ही कर्मों के नाशक -

रत्नत्रयमयं ध्यानमात्मरूपप्ररूपकम् ।
अनन्यगतचित्तस्य विधत्ते कर्मसंक्षयम् ॥259॥

अन्वयार्थ : अनन्यगतचित्तस्य (योगिन:) आत्मरूप-प्ररूपकं रत्नत्रयमयं ध्यानं कर्म-सक्षयं विधत्ते ।

अनन्य चित्तवृत्ति के धारक (एकाग्रचित्तवृत्तिवाले मुनिराज) का आत्मस्वरूप का प्रतिपादक रत्नत्रयमयी ध्यान कर्मों का विनाश करता है ।

संपूर्ण कर्म-मल को धो डालनेवाले का स्वरूप

त्यक्तान्तरेतरग्रन्थो निर्व्यापारो जितेन्द्रियः ।

लोकाचारपराचीनो मलं क्षालयतेऽखिलम् ॥260॥

अन्वयार्थ : त्यक्त-अन्तर-इतर-ग्रन्थ:, निर्व्यापार:, जितेन्द्रिय: लोकाचारपराचीन: (साधु:) अखिलं (कर्म) मलं क्षालयते ।

जो (मुनिराज मिथ्यात्व-कषायादि) अन्तरंग परिग्रह तथा (क्षेत्र-वास्तु आदि) बहिरंग परिग्रह के संपूर्ण त्यागी; (असि, मसि आदि) षट्कर्मों से रहित एवं जितेन्द्रिय हैं और लोकाचार से पराङ्मुख (अलौकिक) हो गये हैं, वे महान योगी सम्पूर्ण कर्म-मल को धो डालते हैं ।

विशुद्धभावधारी कर्मक्षय का अधिकारी -

शुभाशुभ-विशुद्धेषु भावेषु प्रथम-द्वयम् ।

यो विहायान्तिमं धत्ते क्षीयते तस्य कल्मषम् ॥261॥

अन्वयार्थ : शुभ-अशुभ-विशुद्धेषु भावेषु प्रथम-द्वयं विहाय य: (साधक:) अन्तिमं (विशुद्ध-भावं) धत्ते तस्य कल्मषं क्षीयते ।

जीव के शुभ, अशुभ एवं विशुद्ध इसतरह तीन भाव हैं । इनमें से पहले शुभ-अशुभ-इन दो भावों को छोड़कर (हेय मानते हुए / गौण करके) अंतिम (तीसरे) विशुद्ध भावों को जो धारण करते हैं, वे साधक कषायों का नाश करते हैं ।

शुद्ध आत्मतत्त्व को न जाननेवाले के सर्व तप व्यर्थ -

बाह्यमाभ्यन्तरं द्वेधा प्रत्येकं कुर्वता तपः ।

नैनो निर्जीर्यते शुद्धमात्मतत्त्वमजानता ॥262॥

अन्वयार्थ : शुद्धं आत्मतत्त्वं अजानता बाह्यं आभ्यन्तरं द्वेधा प्रत्येकं तप: कुर्वता (अपि) एन: न निर्जीर्यते ।

जो जीव निज शुद्ध आत्मतत्त्व को न जानते हुए जिनेन्द्र कथित (अनशनादि छहों) बाह्य तप और (प्रायश्चित्तादि छहों) अंतरंग तप - इनमें से प्रत्येक तप का आचरण करता है, तो भी उस जीव के किसी भी कर्म की निर्जरा नहीं होती ।

आत्मतत्त्व में लवलीन संयमी को कर्म की निर्जरा -

कर्म निर्जीर्यते पूतं विदधानेन संयमम् ।

आत्मतत्त्वनिविष्टेन जिनागमनिवेदितम् ॥263॥

अन्वयार्थ : जिनागम-निवेदितं पूतं संयमं विदधानेन आत्म-तत्त्व-निविष्टेन कर्म निर्जीर्यते ।

जिनागम-कथित पवित्र संयम का आचरण करते हुए जो मुनिराज अनादिअनंत, निज, शुद्ध आत्मतत्त्व में लवलीन रहते हैं, उनके ज्ञानावरणादि आठों कर्म निर्जरा को प्राप्त होते हैं ।

कर्म-रज को धो डालनेवाले मुनिराज का स्वरूप -

अन्याचारपरावृत्तः स्वतत्त्वचरणादृतः ।

संपूर्णसंयमो योगी विधुनोति रजः स्वयम् ॥264॥

अन्वयार्थ : अन्य-आचार-परावृत्त: स्व-तत्त्व-चरणादृत: सम्पूर्ण-संयम: योगी स्वयं (कर्म) रज: विधुनोति ।

शुभाशुभरूप अन्य आचरण से सर्वथा विमुख, स्वतत्त्व (निज भगवान आत्मा) में आचरण करने में सावधान एवं उत्साही, परिपूर्ण संयमी योगिराज (अन्य की सहायता के बिना) स्वयं कर्मरूपी रज को विशेष रीति से धो डालते हैं ।

लोकाचार अपनाने से संयम हीन होता है -

हित्वा लोकोत्तराचारं लोकाचारमुपैति यः ।

संयमो हीयते तस्य निर्जरायां निबन्धनम् ॥265॥

अन्वयार्थ : य: (योगी) लोकोत्तरं आचारं हित्वा लोकाचारं उपैति; तस्य निर्जरायां निबन्धनं संयम: हीयते ।

जो मुनिराज लोकोत्तर आचार (अलौकिक वृत्ति) को छोड़कर लोकाचार (लोकरंजक / लौकिक) आचरण को अपनाते हैं, उनका निर्जरा का कारणरूप संयम हीन हो जाता है ।

अरहंत-वचनों के श्रद्धान का महत्त्व -

चारित्रं विदधानोऽपि पवित्रं यदि तत्त्वतः ।
श्रद्धत्ते नार्हतं वाक्यं न शुद्धिं श्रयते तदा ॥266॥

अन्वयार्थ : पवित्रं चारित्रं विदधान: अपि (योगी) यदि अर्हतं वाक्यं तत्त्वत: न श्रद्धत्ते तदा शुद्धिं न श्रयते ।

जिनागम में प्रतिपादित पवित्र चारित्र का कठोरता से पूर्ण पालन करते हुए भी यदि मुनिराज अरहंत के वचनों का यथार्थ श्रद्धान नहीं करते तो वे शुद्धि को प्राप्त नहीं होते ।

जिनागम के ज्ञान का महत्त्व -

विचित्रे चरणाचारे वर्तमानोऽपि संयतः ।
जिनागममजानानः सदृशो गतचक्षुषः ॥267॥

अन्वयार्थ : विचित्रे चरणाचारे वर्तमान: अपि जिनागमं अजानान: संयत: गतचक्षुष: सदृश: (भवति) ।

अनेक प्रकार के आचरण में प्रवर्तमान होते हुए भी जो संयमी जिनागम को नहीं जानता, वह चक्षुहीन के समान हैं (उसका सर्व आचरण अन्धानुकरण / अन्धाचरण / व्यर्थ है) ।

भिन्न-भिन्न चक्षुधारक जीव -

साधूनामागमश्चक्षुर्भूतानां चक्षुरिन्द्रियम् ।
देवानामवधिश्चक्षुर्निर्वृताः सर्व-चक्षुषः ॥268॥

अन्वयार्थ : साधूनां चक्षु: आगम:, भूतानां चक्षु: इन्द्रियं, देवानां चक्षु: अवधि: (भवति)। च निर्वृता: सर्व-चक्षुष: (भवन्ति) ।

साधु (मुनिराज) आगमरूप चक्षुवाले हैं, सर्वजीव (संसारी) इंद्रिय चक्षुवाले हैं, देव अवधिचक्षुवाले हैं और सिद्ध भगवान सर्वतः चक्षु (सर्व ओर से चक्षुवाले / सर्वात्मप्रदेशों से चक्षुवाले / सर्वज्ञ) हैं ।

आगम-प्रदर्शित अनुष्ठान का कार्य -

प्रदर्शितमनुष्ठानमागमेन तपस्विनः ।
निर्जराकारणं सर्वं ज्ञात-तत्त्वस्य जायते ॥269॥

अन्वयार्थ : आगमेन प्रदर्शितं सर्वं अनुष्ठानं ज्ञात-तत्त्वस्य तपस्विन: निर्जरा-कारणं जायते ।

जिनागम के द्वारा प्रदर्शित अनुष्ठान (आचरण-पद्धति) तत्त्वज्ञ मुनिराजों के ज्ञानावरणादि कर्मों के निर्जरा का कारण होती है ।

अज्ञानी तथा ज्ञानी के विषय-सेवन का फल -

अज्ञानी बध्यते यत्र सेव्यमानेऽक्षगोचरे ।
तत्रैव मुच्यते ज्ञानी पश्यताश्चर्यीदृशम् ॥270॥

अन्वयार्थ : अक्षगोचरे सेव्यमाने यत्र अज्ञानी बध्यते तत्र एव ज्ञानी (बन्धत:) मुच्यते ईदृशं आश्चर्यं पश्यत ।

स्पर्शादि इंद्रिय-विषयों के सेवन करने पर जहाँ अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) कर्म-बन्ध को प्राप्त होते हैं, वहाँ ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) उसी स्पर्शादि इंद्रिय-विषय के सेवन से कर्म-बन्धन से छूटते हैं (कर्मों की निर्जरा करते हैं), इस आश्चर्य को देखो ।

निर्विकल्प अर्थात् वीतरागता से निर्जरा -

शुभाशुभ-विकल्पेन कर्मायाति शुभाशुभम् ।
भुज्यमानेऽखिले द्रव्ये निर्विकल्पस्य निर्जरा ॥271॥

अन्वयार्थ : शुभ-अशुभ-विकल्पेन शुभ-अशुभं कर्म आयाति । अखिले द्रव्ये भुज्यमाने (अपि) निर्विकल्पस्य निर्जरा (जायते) ।

अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) को शुभाशुभ विकल्प द्वारा (राग-द्वेष के कारण) पुण्य-पापरूप कर्म का आस्रव-बंध होता है । सम्पूर्ण द्रव्य समूह

(स्पर्शादि सर्व विषयों को) भोगते हुए भी जो निर्विकल्प (कथंचित् वीतरागी) है, उसको कर्म की निर्जरा होती है ।

अपरिग्रही योगीराज की निर्जरा -

अहमस्मि न कस्यापि न ममान्यो बहिस्ततः ।
इति निष्किंचनो योगी धुनीते निखिलं रजः ॥272॥

अन्वयार्थ : अहं न कस्य अपि अस्मि, न अन्य: बहि: मम (अस्ति), इति तत: (परद्रव्यत:) निष्किंचन: योगी निखिलं रज: धुनीते ।
मैं किसी (पुत्र-कलत्रादि) का भी नहीं हूँ और न अन्य (पुत्रादि अथवा धनादि बाह्य पदार्थ) मेरे हैं; इसप्रकार किसी भी रूप से पर को न अपनाते हुए अपरिग्रही (निःसंग) योगिराज सारे कर्मरूपी रज को नष्ट कर देते हैं ।

शुद्ध आत्मा को छोड़नेवालों की स्थिति -

मुक्त्वा विविक्तमात्मानं मुक्त्यै येऽन्यमुपासते ।
ते भजन्ति हिमं मूढा विमुच्याग्निं हिमच्छिदे ॥273॥

अन्वयार्थ : विविक्तं आत्मानं मुक्त्वा मुक्त्यै ये अन्यं उपासते ते मूढा: हिमच्छिदे अग्निं विमुच्य हिमं (एव) भजन्ति ।
विविक्त (द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म से रहित) त्रिकाली, निज शुद्ध, सुख-स्वरूप भगवान आत्मा को छोड़कर जो अन्य (कल्पित रागी-द्वेषी देवी-देवताओं को अथवा अरहंत-सिद्ध आदि इष्ट देवों) की भी मुक्ति के लिये उपासना (ध्यान) करते हैं, वे मूढ़ कष्टदायक अति ठंड का नाश करने के लिये अग्नि को छोड़कर शीतलस्वभावी बर्फ का ही सेवन करते हैं, जो नियम से अनिष्ट फल-दाता है ।

जो अन्यत्र देव को ढूँढता है, उसकी स्थिति -

योऽन्यत्र वीक्षते देवं देहस्थे परमात्मनि ।
सोऽन्ने सिद्धे गृहे शंके भिक्षां भ्रमति मूढधीः ॥274॥

अन्वयार्थ : परमात्मनि देहस्थे (सति) यः देवं अन्यत्र वीक्षते स: मूढधी: गृहे अन्ने सिद्धे शंके (सति) भिक्षां भ्रमति ।
वास्तविक देखा जाय तो अपने ही देहरूपी देवालय में परमात्मदेव विराजमान होने पर भी जो अज्ञानी परमात्मदेव को अन्यत्र (मंदिर, तीर्थक्षेत्र आदि स्थान में) ढूँढता है, मैं (अमितगति आचार्य) समझता हूँ कि वह मूढ़बुद्धि अपने ही घर में पौष्टिक और रुचिकर भोजन तैयार होने पर भी दीन-हीन बनकर भिक्षा के लिये अन्य के घरों में भ्रमण करता है ।

मोह से जीव, कर्मों से बँधता है -

कषायोदयतो जीवो बध्यते कर्मरज्जुभिः ।
शान्त-क्षीणकषायस्य त्रुट्यन्ति रभसेन ताः ॥275॥

अन्वयार्थ : कषाय-उदयत: (मूढ़:) जीव: कर्म-रज्जुभि: बध्यते । शान्त-क्षीण-कषायस्य (जीवस्य) ता: (कर्म-रज्जव:) रभसेन त्रुट्यन्ति ।
(मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और) कषाय के उदय से (मोह-रागद्वेषरूप परिणामों से) यह अज्ञानी जीव आठ कर्मरज्जुरूप बंधनों से बंधता है और जिनके कषायादि विभाव शांत अथवा क्षीण हो जाते हैं, उनके वे (कर्म रज्जुबंधन) शीघ्र टूट जाते हैं ।

अप्रमादी पापों से छूटते हैं -

सर्वत्र प्राप्यते पापैः प्रमाद निलयीकृतः ।
प्रमाददोषनिर्मुक्तः सर्वत्रापि हि मुच्यते ॥276॥

अन्वयार्थ : प्रमाद-निलयीकृत: सर्वत्र पापै: प्राप्यते । हि प्रमाद-दोष-निर्मुक्त: सर्वत्र अपि (पापै:) मुच्यते ।
जिन्होंने प्रमाद का आश्रय लिया है (जो सदा प्रमाद से घिरे / प्रमादी बने रहते हैं) वे सर्वत्र पापकर्मों से गृहीत होते हैं (पापों से बंधते रहते हैं) । जो प्रमाद के दोष से रहित अप्रमादी हो जाते हैं, वे सदा (सर्वत्र) पापों से मुक्त होते रहते हैं ।

स्वतीर्थ-परतीर्थ का स्वरूप -

स्वतीर्थमलं हित्वा शुद्ध्येऽन्यद् भजन्ति ये ।
ते मन्ये मलिनाः स्नान्ति सरः संत्यज्य पल्वले ॥277॥

अन्वयार्थ : ये अमलं स्व (आत्म) तीर्थं हित्वा शुद्धये अन्यत् (तीर्थं) भजन्ति (अहं) मन्ये ते मलिना: सरः संत्यज्य पल्वले स्नान्ति ।
जो अज्ञानी जीव अपने स्वाभाविक तथा अति निर्मल आत्मरूपी तीर्थ को छोड़कर आत्म-शुद्धि (परिणामों की निर्मलता) के लिये अन्य (अतिशयक्षेत्र अथवा सिद्धक्षेत्र रूप तीर्थ) को भजते (स्वीकारते) हैं; मैं (अमितगति आचार्य) समझता हूँ कि वे मूर्ख जीव निर्मल जलवाले सरोवर को छोड़कर मलिन जलवाले छोटे गड्ढे में स्नान करते हैं ।

परीषहजय का लाभ -

स्वात्मानमिच्छुभिर्ज्ञातुं सहनीयाः परीषहाः ।
नश्यत्यसहमानस्य स्वात्म-ज्ञानं परीषहात् ॥278॥

अन्वयार्थ : स्व-आत्मानं ज्ञातुं इच्छुभि: परीषहा: सहनीया:। (परीषहान्) असहमानस्य स्व-आत्म-ज्ञानं परीषहात् नश्यति ।
अपने आत्मा को जानने के इच्छुक साधुओं को समागत परीषहों को सहन करना चाहिए; क्योंकि यदि सहज उपस्थित परीषहों को मुनिराज सहन नहीं करते हैं, तो उनका प्राप्त किया हुआ आत्म-ज्ञान परीषहों के उपस्थित होनेपर स्थिर नहीं रहता (नाश को प्राप्त हो जाता है) ।

प्राप्त सुख-दुःख में समताभाव से निर्जरा -

अनुबन्धः सुखे दुःखे न कार्यो निर्जरार्थिभिः ।
आर्तं तदनुबन्धेन जायते भूरिकर्मदम् ॥279॥

अन्वयार्थ : निर्जरार्थिभि: सुखे-दु:खे अनुबन्ध: न कार्य: तदनुबन्धेन भूरिकर्मदं आर्तं (ध्यानं) जायते ।
निर्जरातत्त्व के इच्छुक साधकों को सहजरूप से प्राप्त सुख-दुःख में अनुबन्ध (अनुवर्तनरूप) प्रवृत्ति नहीं रखना चाहिए; क्योंकि उस आसक्ति से ही आर्तध्यान होता है, जो अनेक कर्मों के बंध का दाता है ।

आत्मज्ञान से ही आत्मा शुद्ध होता है -

आत्मावबोधतो नूनमात्मा शुद्ध्यति नान्यतः ।
अन्यतः शुद्धिमिच्छन्तो विपरीतदृशोऽखिलाः ॥280॥

अन्वयार्थ : नूनं आत्मा आत्म-अवबोधत: शुद्ध्यति, अन्यत: न । अन्यत: शुद्धिं इच्छन्त: अखिला: विपरीतदृश: (सन्ति)।
वास्तविक देखा जाय तो संसार-स्थित अशुद्ध आत्मा निज शुद्धात्मा को प्रत्यक्ष करने से ही (आत्मज्ञान / आत्मानुभव से ही पर्याय में) शुद्ध (पवित्र / वीतरागमय) होता है; अन्य किसी साधन से नहीं । जो अज्ञानी जीव अन्य साधनों से (व्रत, उपवास, पुण्य, पूजा, परोपकार, दान, तप, भक्ति, नाम-स्मरण आदि से) आत्मा की शुद्धि चाहते हैं, वे सब जीव मिथ्यादृष्टि हैं ।

सर्व परद्रव्यों से आत्मा का संबंध नहीं -

स्पृश्यते शोध्यते नात्मा मलिनेनामलेन वा ।
पर-द्रव्य-बहिर्भूतः परद्रव्येण सर्वथा ॥281॥

अन्वयार्थ : मलिनेन वा अमलेन परद्रव्येण आत्मा न स्पृश्यते (न) शोध्यते । (यतः आत्मा) सर्वथा पर-द्रव्य-बहिर्भूत: (अस्ति) ।
समल अथवा निर्मल कोई भी परद्रव्य आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकता और आत्मा को शुद्ध भी नहीं कर सकता; क्योंकि आत्मा परद्रव्यों से सर्वथा बहिर्भूत (भिन्न) है ।

निजात्मस्वरूप की भावना भानी चाहिए -

स्वरूपमात्मनो भाव्यं परद्रव्य-जिहासया ।
न जहाति परद्रव्यमात्मरूपाभिभावकः ॥282॥

अन्वयार्थ : परद्रव्य-जिहासया आत्मन: स्वरूपं भाव्यं।(य:) परद्रव्यं न जहाति (स:) आत्मरूप-अभिभावक: (अस्ति) ।

अपने संयोग में प्राप्त परद्रव्य के त्याग की भावना से निज आत्म-स्वरूप की भावना भानी चाहिए । जो परद्रव्यों को नहीं छोड़ते (उनके संबंध में अपना रागभाव नहीं छोड़ते), वे अपने शुद्धात्मस्वरूप का अनादर करते हैं ।

परद्रव्य को जानने का लाभ -

विज्ञातव्यं परद्रव्यमात्मद्रव्य-जिघृक्षया ।
अविज्ञातपरद्रव्यो नात्मद्रव्यं जिघृक्षति ॥283॥

अन्वयार्थ : आत्मद्रव्य-जिघृक्षया (गृहीतुमिच्छया) परद्रव्यं विज्ञातव्यं । अविज्ञात परद्रव्य: आत्मद्रव्यं न जिघृक्षति ।

आत्मद्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा से परद्रव्य को जानना चाहिए । जो परद्रव्य के ज्ञान से रहित है वह आत्मद्रव्य के ग्रहण की इच्छा नहीं करता ।

जगत के स्वभाव की भावना का प्रयोजन -

स्व-तत्त्वरक्तये नित्यं परद्रव्य-विरक्तये ।
स्वभावो जगतो भाव्यः समस्तमलशुद्धये॥284॥

अन्वयार्थ : नित्यं स्व-तत्त्वरक्तये, परद्रव्य-विरक्तये, समस्तमलशुद्धये जगत: स्वभाव: भाव्य: ।

अनादि-अनंत निज शुद्ध आत्मतत्त्व में लवलीन होने के लिये, (विश्व में विद्यमान जीवादि अनंतानंत) द्रव्यों से विरक्त होने की भावना से और (अपने आत्मा से संबंधित ज्ञानावरणादि आठों कर्मरूपी) मल से रहित होकर शुद्ध होने की इच्छा से जगत के स्वभाव की भावना करना योग्य है ।

एक आश्चर्य की बात -

यत् पञ्चाभ्यन्तरैः पापैः सेव्यमानः प्रबध्यते ।
न तु पञ्चबहिर्भूतैराश्चर्यं किमतः परम् ॥285॥

अन्वयार्थ : यत् पञ्चाभ्यन्तरै: पापै: सेव्यमान: प्रबध्यते, न तु पञ्चबहिर्भूतै: अत: किम् परम आश्चर्य् ।

जो जीव अन्तरंग में स्थित पाँच पापों से सेव्यमान है वह तो बन्ध को प्राप्त होता है; किन्तु जो बहिर्भूत पाँचों पापों से सेव्यमान है, वह बन्ध को प्राप्त नहीं होता; इससे अधिक आश्चर्य की बात और क्या है?

जिसकी उपासना उसकी प्राप्ति -

ज्ञानस्य ज्ञानमज्ञानमज्ञानस्य प्रयच्छति ।
आराधना कृता यस्माद् विद्यमानं प्रदीयते ॥286॥

अन्वयार्थ : ज्ञानस्य कृता आराधना ज्ञानं प्रयच्छति । अज्ञानस्य (कृता आराधना) अज्ञानं (प्रयच्छति यत:) यस्मात् (यत्) विद्यमानं (तत् एव) प्रदीयते ।

जो विवेकी जीव ज्ञान की (ज्ञानस्वभावी आत्मा की) उपासना करता है, उसे ज्ञान प्राप्त होता है और जो अविवेकी अज्ञान की (अज्ञानस्वभावी जड़ की) उपासना करता है, उसे अज्ञान प्राप्त होता है; क्योंकि यह जगप्रसिद्ध सिद्धांत है कि जिसके पास जो वस्तु होती है, वह वही देता है ।

ज्ञान को जानने से ज्ञानी जीव का ज्ञान होता है -

न ज्ञान-ज्ञानिनोर्भेदो विद्यते सर्वथा यतः ।

ज्ञाने ज्ञाते ततो ज्ञानी ज्ञातो भवति तत्त्वतः ॥287 ॥

अन्वयार्थ : यत: ज्ञान-ज्ञानिनो: सर्वथा भेद: न विद्यते । तत: तत्त्वत: ज्ञाने ज्ञाते (सति) ज्ञानी ज्ञात: (इति) भवति ।

क्योंकि ज्ञान और ज्ञानी जीव में सर्वथा भेद विद्यमान नहीं है; इसलिए ज्ञान को जानने से वास्तविक देखा जाय तो ज्ञानी जीव का ही ज्ञान होता है ।

ज्ञानवान द्रव्य ही वस्तु को जानता है -

ज्ञानं स्वात्मनि सर्वेण प्रत्यक्षमनुभूयते ।

ज्ञानानुभवहीनस्य नार्थज्ञानं प्रसिद्ध्यति ॥288॥

अन्वयार्थ : सर्वेण स्व-आत्मनि ज्ञानं प्रत्यक्षं अनुभूयते । ज्ञानानुभवहीनस्य अर्थज्ञानं न प्रसिद्ध्यति ।

एकेन्द्रियादि प्रत्येक जीव अपनी आत्मा में विद्यमान ज्ञान गुण के जाननरूप कार्य का अनुभव करता है । जो द्रव्य अपने में ज्ञान न होने से जाननरूप अनुभव से रहित (अचेतन) है, उसे किसी भी द्रव्य का ज्ञान सिद्ध नहीं होता ।

परोक्ष ज्ञान से आत्मा की प्रतीति होती है -

प्रतीयते परोक्षेण ज्ञानेन विषयो यदि ।

सोऽनेन परकीयेण तदा किं न प्रतीयते ॥289॥

अन्वयार्थ : यदि परोक्षेण ज्ञानेन विषय: प्रतीयते तदा अनेन परकीयेण (परोक्ष-ज्ञानेन) स: (ज्ञानी आत्मा) किं न प्रतीयते ?

यदि मति-श्रुतरूप परोक्षज्ञान से स्पर्शादि विषयों का स्पष्ट/प्रत्यक्ष (सांव्यवहारिक) ज्ञान होता है तो इस मति-श्रुतरूप परोक्ष ज्ञान से ही ज्ञानमय आत्मा का स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान क्यों नहीं हो सकता? **अर्थ**ात् अवश्य हो सकता है ।

ज्ञान स्व-पर प्रकाशक होता है -

येनार्थो ज्ञायते तेन ज्ञानी न ज्ञायते कथम् ।

उद्योतो दृश्यते येन दीपस्तेन तरां न किम् ॥290॥

अन्वयार्थ : येन उद्योत: (प्रकाश:) दृश्यते तेन दीप: तरां किं नं (दृश्यते) । येन (ज्ञानेन) अर्थ: ज्ञायते तेन ज्ञानी कथं न ज्ञायते ?

जैसे दीपक के प्रकाश को देखनेवाला मनुष्य प्रकाश-उत्पादक उस दीपक को सहजरूप से देखता है । वैसे जो ज्ञान, पदार्थ को जानता है; वही ज्ञान, ज्ञान उत्पादक जीव को भी अवश्य जानता है ।

जो वेद्य को जानता है वह वेदक को जानता ही है -

विदन्ति दुर्धियो वेद्यं वेदकं न विदन्ति किम् ।

द्योत्यं पश्यन्ति न द्योतमाश्चर्यं बत कीदृशम् ॥291॥

अन्वयार्थ : दुर्धिय: वेद्यं विदन्ति वेदकं किं न विदन्ति ? द्योत्यं पश्यन्ति द्योतं न बत कीदृशम् आश्चर्य् (अस्ति) ?

दुर्बुद्धि वेद्य को तो जानते हैं वेदक को क्यों नहीं जानते? प्रकाश्य को तो देखते हैं किन्तु प्रकाशक को नहीं देखते, यह कैसा आश्चर्य है?

शुद्ध आत्मा के ध्यान से कर्मों की निर्जरा -

ज्ञेय-लक्ष्येण विज्ञाय स्वरूपं परमात्मन: ।

व्यावृत्त्य लक्ष्यतः शुद्धं ध्यायतो हानिरंहसाम् ॥292॥

अन्वयार्थ : ज्ञेय-लक्ष्येण परमात्मन: स्वरूपं विज्ञाय लक्ष्यत: व्यावृत्त्य शुद्धं ध्यायत: अंहसां हानिः (जायते) ।

ज्ञेय के लक्ष्य द्वारा परमात्मा के स्वरूप को जानकर और लक्ष्यरूप से व्यावृत होकर शुद्ध स्वरूप का ध्यान करनेवाले के कर्मों का नाश होता है ।

इसी का दृष्टान्तपूर्वक समर्थन करते हैं -

चट्टुकेन यथा भोज्यं गृहीत्वा स विमुच्यते ।
गोचरेण तथात्मानं विज्ञाय स विमुच्यते ॥293॥

अन्वयार्थ : यथा चट्टुकेन भोज्यं गृहीत्वा स: (चट्टुक:) विमुच्यते तथा गोचरेण (ज्ञेय-लक्ष्येण) आत्मानं विज्ञाय स: (गोचर: ज्ञेय:) विमुच्यते ।
जिस प्रकार कड़छी (चम्मच) से भोजन ग्रहण करके उसे (चम्मच) को छोड़ दिया जाता है उसी प्रकार गोचर के - ज्ञेय लक्ष्य-द्वारा आत्मा को जानकर ज्ञेय को छोड़ दिया जाता है ।

आत्मप्राप्त ज्ञानी सुखी -

उपलब्धे यथाहारे दोषहीने सुखासिकः ।
आत्मतत्त्वे तथा क्षिप्रमित्यहो ज्ञानिनां रतिः ॥294॥

अन्वयार्थ : यथा दोषहीने आहारे उपलब्धे सुखासिक: तथा आत्मतत्त्वे (उपलब्धे) क्षिप्रं (सुखासिक:) इति ज्ञानिनां अहो रति: !
जिसप्रकार लौकिक जीवन में दोषरहित भोजन मिलने पर मनुष्य को सुख मिलता है, उसीप्रकार शुद्ध आत्मतत्त्व के प्राप्त होने पर ज्ञानी जीव को तत्काल सुख मिलता है । यह ज्ञानियों की आत्म-तत्त्व में आश्चर्यकारी रति (प्रेम) है ।

परद्रव्य के त्याग का स्वरूप -

परद्रव्यं यथा सद्भिर्ज्ञात्वा दुःख-विभीरुभि: ।
दुःखदं त्यज्यते दूरमात्मतत्त्वरतैस्तथा ॥295॥

अन्वयार्थ : यथा दु:ख-विभीरुभि: सद्भि: परद्रव्यं दुःखदं ज्ञात्वा दूरं त्यज्यते तथा आत्मतत्त्वरतै: (परद्रव्यं त्यज्यते) ।
जिसप्रकार दुःख से भयभीत सत्पुरुष परद्रव्य को दुःखदायक जानकर दूर से ही छोड़ देते हैं; उसीप्रकार निजशुद्धात्मतत्त्व में मग्न (लीन) जीव परद्रव्य को दूर से ही छोड़ देते हैं ।

विशोधित ज्ञान और अज्ञान का स्वरूप -

ज्ञाने विशोधिते ज्ञानमज्ञानेऽज्ञानमूर्जितम् ।
शुद्धं स्वर्णमिव स्वर्णे लोहे लोहमिवाश्नुते ॥296॥

अन्वयार्थ : (यथा) स्वर्णे (विशोधिते) शुद्धं स्वर्ण इव लोहे (च) लोहं इव अश्नुते । (तथा) ज्ञाने विशोधिते ज्ञानं अज्ञाने (च) अज्ञानं ऊर्जितं भवति ।
जैसे स्वर्ण के विशोधित होने पर शुद्ध स्वर्ण और लोहे के विशोधित होने पर शुद्ध लोहा गुणवृद्धि (अतिशय) को प्राप्त होता है; वैसे ज्ञान के विशोधित होने पर ज्ञान और अज्ञान के विशोधित होने पर अज्ञान ऊर्जित (अतिशय) को प्राप्त होता है ।

मोहरूप परिणाम में कर्म ही निमित्त, जीव-स्वभाव नहीं -

प्रतिबिम्बं यथादर्शे दृश्यते परसंगतः ।
चेतने निर्मले मोहस्तथा कल्मषसंगतः ॥297॥

अन्वयार्थ : यथा आदर्शे परसंगत: प्रतिबिम्बं दृश्यते तथा निर्मले चेतने कल्मष-संगत: मोह: (दृश्यते) ।
जिसप्रकार निर्मल दर्पण में पर-द्रव्य के संयोग से प्रतिबिंब दिखता है, स्वभाव से नहीं; उसीप्रकार अनादि-अनंत निर्मल (शुद्ध) चेतन-द्रव्य में द्रव्य-मोहरूप पापकर्म के उदय से मोह परिणाम दिखता है, स्वभाव से नहीं ।

आत्मशुद्धि के लिये ज्ञानाराधना -

धर्मेण वासितो जीवो धर्मे पापे न वर्तते ।
पापेन वासितो नूनं पापे धर्मे न सर्वदा ॥298॥

ज्ञानेन वासितो ज्ञाने नाज्ञानेऽसौ कदाचन ।
यतस्ततो मतिः कार्या ज्ञाने शुद्धिं विधित्सुभिः ॥299॥
अन्वयार्थ : धर्मेण वासित: जीव: नूनं धर्मे वर्तते न पापे, पापेन वासित: (जीव:) सर्वदा पापे (वर्तते) न धर्मे । यत: ज्ञानेन वासित: (जीव:) ज्ञाने (वर्तते) असौ कदाचन अज्ञाने न; तत: शुद्धिं विधित्सुभि: ज्ञाने मति: कार्या ।
धर्म (पुण्य) से संस्कारित हुआ जीव निश्चय से धर्म में सदा प्रवर्तता है, पाप में नहीं । पाप से संस्कारित हुआ जीव निश्चय से सदा पाप में प्रवृत्त होता है, पुण्य में नहीं । ज्ञान से संस्कारित हुआ जीव सदा ज्ञान में प्रवृत्त होता है, अज्ञान में कदाचित् नहीं । इसलिए शुद्धि (वीतरागता / निर्जरा) की इच्छा रखनेवाले को ज्ञान की उपासना (आराधना) में बुद्धि लगाना चाहिए ।

ज्ञानी अज्ञान को नहीं अपनाता -

ज्ञानी निर्मलतां प्राप्तो नाज्ञानं प्रतिपद्यते ।
मलिनत्वं कुतो याति काञ्चनं हि विशोधितम् ॥300॥
अन्वयार्थ : निर्मलतां प्राप्त: ज्ञानी अज्ञानं न प्रतिपद्यते । हि विशोधितं काञ्चनं मलिनत्वं कुत: याति ? (नैव याति) ।
जैसे पूर्ण रीति से शुद्ध किया हुआ सुवर्ण मलिनता को प्राप्त नहीं होता, वैसे पूर्ण निर्मलता को प्राप्त हुआ ज्ञानी अज्ञान को प्राप्त नहीं होता ।

विद्वानों के लिये ग्रंथकार का दिशानिर्देश -

अध्येतव्यं स्तिमितमनसा ध्येयमाराधनीयं ।
पृच्छ्यं श्रव्यं भवति विदुषाभ्यस्यमावर्जनीयम् । ।
वेद्यं गद्यं किमपि तदिह प्रार्थनीयं विनेयं ।
दृश्यं स्पृश्यं प्रभवति यतः सर्वदात्मस्थिरत्वम् ॥301॥
अन्वयार्थ : इह विदुषा तद् किमपि स्तिमितमनसा अध्येतव्यं ध्येयं आराधनीयं पृच्छ्यं श्रव्यं अभ्यस्यं आवर्जनीयं वेद्यं गद्यं प्रार्थनीयं विनेयं दृश्यं स्पृश्यं भवति यत: सर्वदा आत्मस्थिरत्वं प्रभवति ।
इस लोक में विद्वानों के लिये वह कोई भी पदार्थ स्थिर चित्त से अध्ययन के योग्य, ध्यान के योग्य, आराधन के योग्य, पूछने के योग्य, सुनने के योग्य, अभ्यास के योग्य, संग्रहण के योग्य, जानने के योग्य, कहने के योग्य, प्रार्थना के योग्य, प्राप्त करने के योग्य, देखने के योग्य और स्पर्श के योग्य होता है, जिसके अध्ययनादि से आत्मस्वरूप की स्थिरता सदा वृद्धि को प्राप्त होती है ।

योगी का स्वरूप और उसके जीवन का फल -

इत्थं योगी व्यपगतपर-द्रव्य-संगप्रसो ।
नीत्वा कामं चपल-करण-ग्राममन्तर्मुखत्वम् । ।
ध्यात्वात्मानं विशदचरण-ज्ञान-दृष्टिस्वभावं, ।
नित्यज्योतिः पदमनुपमं याति निर्जीर्णकर्मा ॥302॥
अन्वयार्थ : इत्थं व्यपगत पर-द्रव्य-संगप्रसंग निर्जीर्णकर्मा योगी कामं चपल-करणग्रामं-अन्तर्मुखत्वं नीत्वा विशदचरण-ज्ञान-दृष्टिस्वभावं आत्मानं ध्यात्वा नित्यज्योति: अनुपमं पदं याति ।
इस प्रकार पर-द्रव्य के संग-प्रसंग से रहित हुए कर्मों की निर्जरा करनेवाले योगी चंचल इन्द्रिय समूह को यथेष्ट (पर्याप्त) अन्तर्मुख करके और विशुद्ध-दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभावरूप आत्मा का ध्यान करके अनुपम, शाश्वत ज्योतिरूप परमात्म-पद को प्राप्त होते हैं ।

मोक्ष का स्वरूप -

अभावे बन्ध-हेतूनां निर्जरायां च भास्वरः ।
समस्तकर्म-विश्लेषो मोक्षो वाच्योऽपुनर्भवः ॥303॥

अन्वयार्थ : बन्ध-हेतूनां अभावे च निर्जरायां (सत्यां) समस्तकर्म-विश्लेष: भास्वर: अपुनर्भव: वाच्य: मोक्ष:।
नये कर्मबंध के कारणों का सर्वथा अभाव और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होनेपर आत्मा से संपूर्ण कर्मों का जो विश्लेष **अर्थ**ात् पृथक होना, वह प्रकाशमान मोक्ष है, जिसे अपुनर्भव भी कहते हैं ।

निर्दोष आत्मा में केवलज्ञान का उदय -

उदेति केवलं जीवे मोह-विघ्नावृति-क्षये ।
भानु-बिम्बमिवाकाशे भास्वरं तिमिरात्यये ॥304॥
अन्वयार्थ : तिमिर-अत्यये आकाशे भास्वरं भानु-बिम्बं इव मोह-विघ्नावृति-क्षये जीवे केवलं (ज्ञानं) उदेति ।
जिसप्रकार रात्रि का घोर अंधकार दूर होने पर आकाश में तेजस्वी सूर्यबिंब स्वयं उदय को प्राप्त होता है; उसीप्रकार मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अंतराय कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा में केवलज्ञान स्वयं उदय को प्राप्त होता है ।

मलिन आत्मा में केवलज्ञान नहीं -

न दोषमलिने तत्र प्रादुर्भवति केवलम् ।
आदर्शे न मलग्रस्ते किंचिद् रूपं प्रकाशते ॥305॥
अन्वयार्थ : (यथा) मलग्रस्ते आदर्शे तत्र किंचित् (अपि) रूपं न प्रकाशते तथैव दोषमलिने (आत्मनि) केवलं (ज्ञानं) न प्रादुर्भवति ।
जैसे धूल से धूसरित दर्पण में किसी भी पदार्थ का रूप दिखाई नहीं देता; वैसे ही ज्ञानावरणादि कर्मरूप दोषों से दूषित / मलिन हुए आत्मा में केवलज्ञान प्रगट नहीं होता ।

शुद्धात्मध्यान से मोह का नाश -

न मोह-प्रभृतिच्छेदः शुद्धात्मध्यानतो विना ।
कुलिशेन विना येन भूधरो भिद्यते न हि ॥306॥
अन्वयार्थ : येन कुलिशेन विना भूधर: न हि भिद्यते (तथैव) शुद्धात्मध्यानत: विना मोहप्रभृति-च्छेद: न (भवति) ।
जिसप्रकार वज्र के बिना पर्वत नहीं भेदा जाता, उसीप्रकार शुद्ध आत्मा के ध्यान के बिना मोहादि कर्मों का छेद **अर्थ**ात् नाश नहीं होता ।

ध्यान से अत्यन्त आनंद -

विभिन्ने सति दुर्भेदकर्म-ग्रन्थि-महीधरे ।
तीक्ष्णेन ध्यानवज्रेण भूरि-संक्लेश-कारिणि ॥307॥
आनन्दो जायतेऽत्यन्तं तात्त्विकोऽस्य महात्मनः ।
औषधेनेव सव्याधेर्व्याधेरभिभवे कृते ॥308॥
अन्वयार्थ : सव्याधे: औषधेन व्याधे: अभिभवे कृते (सति तस्य) अत्यन्तं आनन्द: जायते इव भूरिसंक्लेशकारिणि दुर्भेदकर्मग्रन्थिमहीधरे तीक्ष्णेन ध्यानवज्रेण विभिन्ने सति अस्य महात्मन: (अत्यंतं) तात्त्विक: (आनन्द: जायते) ।
जिसप्रकार औषधि के सेवन से रोगी के रोग दूर होने पर उसे अत्यन्त आनन्द होता है, उसीप्रकार (जीव को) अत्यंत दु:खदायक दुर्भेद कर्मरूपी पर्वत, तीक्ष्ण ध्यानरूपी वज्र से नष्ट होने पर इस महात्मा के अत्यन्त वास्तविक आनन्द होता है ।

भव्य जीवों के भाग्यानुसार केवली का उपदेश -

साक्षादतीन्द्रियानर्थान् दृष्ट्वा केवलचक्षुषा ।
प्रकृष्ट-पुण्य-सामर्थ्यात् प्रातिहार्यसमन्वितः ॥309॥
अवन्ध्य-देशनः श्रीमान् यथाभव्य-नियोगतः ।
महात्मा केवली कश्चिद् देशनायां प्रवर्तते ॥310॥

अन्वयार्थ : केवलचक्षुषा अतीन्द्रियान् अर्थान् साक्षात् दृष्ट्वा प्रकृष्ट-पुण्य-सामर्थ्यात् प्रातिहार्यसमन्वित: श्रीमान् अवन्ध्य-देशन: कश्चित् केवली महात्मा यथाभव्य-नियोगत: देशनायां प्रवर्तते ।
केवलज्ञान तथा केवलदर्शरूप चक्षु से अतींद्रिय पदार्थों को साक्षात् / प्रत्यक्ष देखकर जानकर विशेष पुण्य के सामर्थ्य से अष्ट प्रातिहार्य से सहित अंतरंग तथा बहिरंग-लक्ष्मी से संपन्न - अमोघ देशना-शक्ति को प्राप्त कोई केवली महात्मा, जैसा भव्य जीवों का नियोग **अर्थ**ात् भाग्य होता है, तदनुसार देशना अर्थात् धर्मोपदेश देने में प्रवृत्त होते हैं ।

आत्मा का स्वरूप ज्ञान है -

विभावसोरिवोष्णत्वं चरिष्णोरिव चापलम् ।
शशाङ्कस्येव शीतत्वं स्वरूपं ज्ञानमात्मनः ॥311॥
अन्वयार्थ : विभावसो: उष्णत्वं इव, चरिष्णो: चापलं इव शशाङ्कस्य (च) शीतत्त्वं इव ज्ञानं आत्मन: स्वरूपं (अस्ति)।
जिसप्रकार सूर्य का स्वरूप उष्णपना, वायु का स्वरूप चंचलपना और चन्द्रमा का स्वरूप शीतलपना है; उसीप्रकार आत्मा का स्वरूप ज्ञान है ।

निमित्त के सद्भाव से नैमित्तिक कार्य -

चैतन्यमात्मनो रूपं तच्च ज्ञानमयं विदुः ।
प्रतिबन्धक-सामर्थ्यान्न स्वकार्ये प्रवर्तते ॥312॥
अन्वयार्थ : आत्मन: रूपं चैतन्यं (अस्ति) तत् च ज्ञानमयं विदु:, (तत् चैतन्यं) प्रतिबन्धक सामर्थ्यात् स्वकार्ये न प्रवर्तते ।
आत्मा का रूप **अर्थ**ात् स्वरूप चैतन्य है और वह चैतन्य ज्ञानमय है; तथापि मोहनीय आदि चारों प्रतिबंधक / विरोधक घाति कर्मों के सामर्थ्य से अर्थात् निमित्त से वह चैतन्य अपने केवलज्ञानादि कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता ।

निमित्त के अभाव से नैमित्तिक कार्य -

ज्ञानी ज्ञेये भवत्यज्ञो नासति प्रतिबन्धके ।
प्रतिबन्धं विना वह्निर्न दाह्येऽदाहकः कदा ॥313॥
अन्वयार्थ : यथा वह्नि: दाह्ये प्रतिबन्धं विना अदाहक: कदा (भवति) ? (तथा एव) प्रतिबन्धके न असति ज्ञानी ज्ञेये अज्ञ: (कदा भवति?) कदापि न ।
जिसप्रकार अग्नि दाह्य **अर्थ**ात् सूखे इंधन के समीप उपस्थित होनेपर और प्रतिबंधक / विरोधी निमित्तों का अभाव हो तो अग्नि जलनेयोग्य पदार्थों में अदाहक कब होती है? दाह्य पदार्थों को जलाती ही है । उसीप्रकार ज्ञेय वस्तुओं की उपस्थिति होने पर और जानने में मोहादि कोई कर्म प्रतिबंधक/विरोधी न हो तो ज्ञानी ज्ञेयों के संबंध में अनभिज्ञ नहीं रहता अर्थात् सर्व ज्ञेयों को जानता ही है ।

केवलज्ञान में क्षेत्रगत दूरी बाधक नहीं है -

प्रतिबन्धो न देशादि-विप्रकर्षोऽस्य युज्यते ।
तथानुभव-सिद्धत्वात् सप्तहेतेरिव स्फुट् ॥314॥
अन्वयार्थ : सप्तहेते: इव अस्य (केवलज्ञानिन: ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञातुं) देशादि-विप्रकर्ष: प्रतिबन्ध: न युज्यते (यत:) तथा स्फुटं अनुभव-सिद्धत्वात् ।
जिसप्रकार पृथ्वी और सूर्य के मध्य की दूरी में - जितने भी छोटे-बड़े जीवादि पदार्थ स्थित हैं, वे सभी सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, तब दूरी का विषय सूर्य के प्रकाशकत्व में विरोधरूप / बाधक नहीं होता, यह अनुभवसिद्ध है; उसीप्रकार केवलज्ञानी का ज्ञान क्षेत्र की अपेक्षा से दूरवर्ती मेरु पर्वतादि, अन्तरित राम-रावणादि और सूक्ष्म परमाणु-कालाणु आदि ज्ञेय उन सबको केवलज्ञान जब जानता है, तब उस दूरवर्ती पदार्थ की क्षेत्रगत दूरी जानने में बाधक नहीं हो सकती ।

ज्ञेय स्वभाव के कारण आत्मा सर्वज्ञ -

सामान्यवद् विशेषाणां स्वभावो ज्ञेयभावतः ।
ज्ञायते स च वा साक्षाद् विना विज्ञायते कथम् ॥315॥

अन्वयार्थ : सामान्यवत् विशेषाणां स्वभाव: ज्ञेयभावत: ज्ञायते स: (स्वभाव:) च साक्षात् (ज्ञानं) विना वा कथं विज्ञायते?

सर्व पदार्थों में ज्ञेयभाव **अर्थ**ात् प्रमेयत्वगुण होने से जिसप्रकार वस्तु के सामान्यस्वभाव को ज्ञान जानता है; उसीप्रकार वस्तु के विशेषस्वभाव को भी ज्ञान जानता ही है; केवलज्ञान के बिना सम्पूर्ण पदार्थों को विशद-स्पष्टरूप से कैसे जाना जा सकता है अर्थात् नहीं जाना जा सकता ।

ज्ञान के कारण आत्मा सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी -

सर्वज्ञः सर्वदर्शी च ततो ज्ञानस्वभावतः ।
नास्य ज्ञान-स्वभावत्वमन्यथा घटते स्फुट् ॥316॥

अन्वयार्थ : तत: ज्ञानस्वभावत: (एव आत्मा) सर्वज्ञ: सर्वदर्शी च (अस्ति) । अन्यथा (सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्व-अभावे) अस्य (आत्मन:) स्फुटं ज्ञान-स्वभावत्वं अपि न घटते ।

इस ज्ञानस्वभाव के कारण ही आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है । यदि आत्मा को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी नहीं माना जाय तो आत्मा का ज्ञानस्वभाव भी घटित नहीं हो सकता ।

सिद्ध होने का साक्षात् साधन -

वेद्यायुर्ना-गोत्राणि यौगपद्येन केवली ।
शुक्लध्यान-कुठारेण छित्त्वा गच्छति निर्वृतिम् ॥317॥

अन्वयार्थ : केवली वेद्य-आयुर्ना-गोत्राणि (कर्माणि) शुक्लध्यान-कुठारेण यौगपद्येन छित्त्वा निर्वृतिं गच्छति ।

केवलज्ञानी अरहंत परमात्मा वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चारों ही अघाति कर्मों को शुक्लध्यानरूपी कुठार से एक साथ छेदकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं ।

वीतरागी जीव को मुक्ति की प्राप्ति होती है -

कर्मैव भिद्यते नास्य शुक्ल-ध्यान-नियोगतः ।
नासौ विधीयते कस्य नेदं वचनमञ्चितम् ॥318॥
कर्म-व्यपगमे राग-द्वेषाद्यनुपपत्तितः ।
आत्मनः संगरागाद्याः न नित्यत्वेन संगताः ॥319॥

अन्वयार्थ : (यदि कोऽपि) (कथयेत्) अस्य (केवलिन:) शुक्ल-ध्यान-नियोगत: कर्म एव न भिद्यते । असौ (मोक्ष: च) कस्य (अपि) न विधीयते इदं वचनं न अञ्चितम् । (यतो हि) आत्मनः संगरागाद्या: नित्यत्वेन न संगता: (सन्ति), कर्म-व्यपगमे राग-द्वेषादि-अनुपपत्तित: ।

यदि कोई कहे - अरहंत परमात्मा केवलज्ञानी के शुक्लध्यान के नियोग से कर्म सर्वथा भेद को प्राप्त नहीं होते **अर्थ**ात् कर्मों का नाश नहीं होता और किसी भी जीव को कभी मोक्ष प्राप्त नहीं होता है; तो यह कथन असत्य है । क्योंकि आत्मा के राग-द्वेष-मोह परिणाम अशाश्वत हैं । कर्मों का विनाश होने पर राग-द्वेषादि की उत्पत्ति ही नहीं होती है ।

सिद्ध परमात्मा पुनः संसार में नहीं आते -

न निर्वृतः सुखीभूतः पुनरायाति संसृतिम् ।
सुखदं हि पदं हित्वा दुःखदं कः प्रपद्यते ॥320॥

अन्वयार्थ : (यथा) हि सुखदं पदं हित्वा दु:खदं (पदं) क: प्रपद्यते ? (क: अपि न; तथा एव) सुखीभूत: निर्वृत: (सिद्ध-परमात्मा) संसृतिं

पुन: न आयाति ।
लौकिक जीवन में जिसतरह कोई भी मनुष्य अपनी इच्छा से सुखदायक पद / स्थान को छोड़कर दुःखदायक स्थान का स्वीकार नहीं करता; उसीतरह अव्याबाध अनंत सुखमय सिद्ध स्थान को छोड़कर सिद्ध परमात्मा संसारी नहीं होते ।

सिद्धात्मा, शरीर ग्रहण नहीं करते -

शरीरं न स गृह्णाति भूयः कर्म-व्यपायतः ।
कारणस्यात्यये कार्यं न कुत्रापि प्ररोहति ॥321॥
अन्वयार्थ : स: (मुक्तात्मा) कर्म-व्यपायत: भूय: शरीरं न गृह्णाति (यत:) कारणस्य अत्यये कार्यं कुत्र अपि न प्ररोहति ।
अनंत सुखी एवं शरीर रहित मुक्तात्मा ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का विनाश हो जाने से पुनः विनाशीक शरीर को ग्रहण नहीं करते; क्योंकि कारण का नाश हो जाने पर कहीं और कभी भी कार्य उत्पन्न नहीं होता ।

ज्ञान, जड़ का धर्म नहीं -

न ज्ञानं प्राकृतो धर्मो मन्तव्यो मान्य-बुद्धिभिः ।
अचेतनस्य न ज्ञानं कदाचन विलोक्यते ॥322॥
अन्वयार्थ : मान्य-बुद्धिभि: ज्ञानं प्राकृत: धर्म: न मन्तव्य: (यत:) अचेतनस्य (पदार्थस्य) ज्ञानं कदाचन न विलोक्यते ।
जो मान्यबुद्धि **अर्थ**ात् विवेकशील विद्वान् हैं, उन्हें ज्ञान गुण को प्रकृति अर्थात् जड का धर्म नहीं मानना चाहिए; क्योंकि अचेतन पदार्थ में ज्ञानगुण कभी किसी को प्रत्यक्ष में देखने को नहीं मिलता ।

कर्मों के नाश के समान ज्ञान का नाश नहीं -

दुरितानीव न ज्ञानं निर्वृतस्यापि गच्छति ।
काञ्चनस्य मले नष्टे काञ्चनत्वं न नश्यति ॥323॥
अन्वयार्थ : (यथा) काञ्चनस्य मले नष्टे काञ्चनत्वं न नश्यति (तथा एव) निर्वृतस्य (सिद्धस्य) अपि दुरितानि इव ज्ञानं न गच्छति ।
जिसप्रकार अशुद्ध सुवर्ण को शुद्ध करते समय सुवर्ण में से अशुद्धता नष्ट होती है; तथापि सुवर्ण नष्ट नहीं होता, उसीप्रकार मुक्तात्मा / सिद्धात्मा के ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के नाश के समान सिद्धों के ज्ञान गुण का नाश नहीं होता ।

गुणों के अभाव से गुणी का अभाव -

न ज्ञानादि-गुणाभावे जीवस्यास्ति व्यवस्थितिः ।
लक्षणापगमे लक्ष्यं न कुत्राप्यवतिष्ठते ॥324॥
अन्वयार्थ : जीवस्य ज्ञानादि-गुणाभावे (जीवस्य) व्यवस्थिति: न अस्ति; लक्षणापगमे लक्ष्यं कुत्र अपि न अवतिष्ठते ।
जीव के ज्ञान-दर्शनादि गुणों का अभाव मान लेने पर जीव द्रव्य की उपस्थिति / सत्ता नहीं रह सकती; क्योंकि ज्ञानरूप लक्षण का अभाव होनेपर जीवरूप लक्ष्य कहीं नहीं ठहरता है ।

कर्मबंध को मात्र जानने से मुक्ति नहीं -

विविधं बहुधा बन्धं बुध्यमानो न मुच्यते ।
कर्म-बद्धो विनोपायं गुप्ति-बद्ध इव ध्रुवम् ॥325॥
अन्वयार्थ : गुप्ति-बद्ध: इव कर्म-बद्ध: विविधं बन्धं बहुधा बुध्यमान: (अपि) उपायं विना न मुच्यते ध्रुवम् ।
जिसप्रकार कारागृह में पडा हुआ बंदी/कैदी 'मैं कारागृह में कैद हूँ' इसप्रकार मात्र जानने से कारागृह से मुक्त नहीं होता; उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्मों से बंधा हुआ संसारी जीव अनेक प्रकार के कर्म-बंधनों को बहुधा / अनेक प्रकार से मात्र जानता हुआ कर्मों से छूटने का वास्तविक उपाय किये बिना मुक्त नहीं होता, यह निश्चित है ।

यथार्थ उपाय करने से मुक्ति -

विभेदं लक्षणैर्बुद्ध्वा स द्विधा जीव-कर्मणोः ।
मुक्तकर्मात्मतत्त्वस्थो मुच्यते सदुपायवान् ॥326॥

अन्वयार्थ : य: जीव-कर्मणो: लक्षणै: द्विधा विभेदं बुद्ध्वा मुक्त-कर्म-आत्मतत्त्वस्थ: स: सदुपायवान् मुच्यते ।

जो जीव और कर्म को अपने-अपने लक्षणों से दो प्रकार के भिन्न-भिन्न पदार्थ जानकर कर्म को छोड़ देते हैं / कर्म से उपेक्षा धारण करते हैं **अर्थ**ात् द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म के मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं और आत्मा में लीन रहते हैं, वे सद्/यथार्थ उपायवान कर्मों से छूटते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं ।

एक ही जीव, अपेक्षा से दो प्रकार का -

एको जीवो द्विधा प्रोक्तः शुद्धाशुद्ध-व्यपेक्षया ।
सुवर्णमिव लोकेन व्यवहारमुपेयुषा ॥327॥

अन्वयार्थ : व्यवहारं उपेयुषा लोकेन सुवर्णं इव एक: जीव: शुद्धाशुद्ध-व्यपेक्षया द्विधा प्रोक्त: ।

जिसप्रकार व्यवहारीजन एक ही सुवर्ण को शुद्ध सुवर्ण और अशुद्ध सुवर्ण - इसतरह दो प्रकार का कहते हैं; उसीप्रकार व्यवहारीजन एक ही जीव को शुद्ध जीव और अशुद्ध जीव - इसतरह दो प्रकार का कहते हैं ।

जीव के भेदों का लक्षण -

संसारी कर्मणा युक्तो मुक्तस्तेन विवर्जितः ।
अशुद्धस्तत्र संसारी मुक्तः शुद्धोऽपुनर्भवः ॥328॥

अन्वयार्थ : कर्मणा युक्त: (जीव:) संसारी, तेन विवर्जित: मुक्त: (अस्ति) । तत्र संसारी अशुद्ध: (च) मुक्त: शुद्ध: अपुनर्भव: ।

जो जीव ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से सहित हैं, उन्हें संसारी जीव कहते हैं और जो जीव ज्ञानावरणादि आठों कर्मों से रहित हैं, उन्हें मुक्त जीव कहते हैं । इन दोनों में जो संसारी हैं, वे अशुद्ध जीव हैं और जो मुक्त हैं, उन्हें शुद्ध कहते हैं, जिनका नाम अपुनर्भव भी है ।

शुद्ध जीव को अपुनर्भव कहने का कारण -

भवं वदन्ति संयोगं यतोऽत्रात्म-तदन्ययोः ।
वियोगं तु भवाभावमापुनर्भविकं ततः ॥329॥

अन्वयार्थ : यत: अत्र आत्म-तदन्ययो: (आत्म-पुद्गलकर्मयो:) संयोगं भवं वदन्ति, वियोगं तु भव-अभावं; तत: (मुक्तजीव:) आपुनर्भविकं ।

क्योंकि आत्मा तथा आत्मा से भिन्न पुद्गलमय आठों कर्मों के संयोग को भव कहते हैं और आत्मा तथा आत्मा से भिन्न पुद्गलमय आठों कर्मों के वियोग को भवाभाव **अर्थ**ात् भव का अभाव/मुक्ति कहते हैं । जीव का पुनः संसार में एकेन्द्रियादि जीवरूप से उत्पन्न न होना अर्थात् जन्म न लेने का नाम भवाभाव है । इसलिए मुक्त/शुद्ध जीव को आपुनर्भविक अर्थात् अपुनर्भववाला कहते हैं ।

मुक्त जीव का स्वरूप -

निरस्तापर-संयोगः स्व-स्वभाव-व्यवस्थितः ।
सर्वौत्सुक्यविनिर्मुक्तः स्तिमितोदधि-सन्निभः॥330॥
एकान्त-क्षीण-संक्लेशो निष्ठितार्थो निरञ्जनः ।
निराबाधः सदानन्दो मुक्तावात्मावतिष्ठते ॥331॥

अन्वयार्थ : मुक्तौ आत्मा निरस्त-अपर-संयोग:, स्व-स्वभाव-व्यवस्थित:, स्तिमितउदिध-सन्निभ:, सर्वौत्सुक्य-विनिर्मुक्त:, एकान्त-क्षीण-संक्लेश:, निष्ठितार्थ:, निरञ्जन:, निराबाध: सदानन्द: (च) अवतिष्ठते ।

मुक्त अवस्था में **अर्थ**ात् सिद्धालय में आत्मा परसंयोग से रहित, स्व-स्वभाव में अवस्थित, निस्तरंग समुद्र के समान, सर्व प्रकार की

उत्सुकता से मुक्त, सर्वथा क्लेश वर्जित, कृतकृत्य, निष्कलंक, निराबाध और सदा आनंदरूप तिष्ठता है ।

ध्यान का फल -

ध्यानस्येदं फलं मुख्यमैकान्तिकमनुत्तरम् ।
आत्मगम्यं परं ब्रह्म ब्रह्मविद्भिरुदाहृतम् ॥332॥

अन्वयार्थ : ब्रह्मविद्भि: परं ब्रह्म आत्मगम्यं - इदं ध्यानस्य मुख्यं, ऐकान्तिकं (च) अनुत्तरं फलं उदाहृतम् ।
ब्रह्मवेत्ता/आत्मज्ञ **अर्थ**ात् आत्मानुभव से आनंद ही आनंद लूटनेवाले महापुरुषों ने ब्रह्म अर्थात् निज शुद्ध आत्मा का ज्ञान तथा अनुभव करना ही ध्यान का मुख्य, अव्यभिचारी / निर्दोष और अद्वितीय फल बतलाया है ।

ध्यान के लिए प्रेरणा -

अतोऽत्रैव महान् यत्नस्तत्त्वतः प्रतिपत्तये ।
प्रेक्षावता सदा कार्यो मुक्त्वा वादादिवासनाम् ॥333॥

अन्वयार्थ : अत: प्रेक्षावता तत्त्वत: (शुद्धात्मन:) प्रतिपत्तये वादादिवासनां मुक्त्वा सदा अत्र (ध्याने) एव महान् यत्न: कार्य: ।
इसलिए विचारशील भव्य जीवों को वास्तविक देखा जाय तो वादविवाद, चर्चा, ऊहापोह, प्रश्नोत्तर, उपदेश करना आदि सब छोडकर निरंतर इस अत्यंत उपकारक ध्यान के लिए ही महान प्रयास करना चाहिए ।

घाति कर्मों का नाश -

ऊचिरे ध्यान-मार्गज्ञा ध्यानोद्धूतर जश्चया: ।
भावि-योगि-हितायेदं ध्वान्त-दीपसमं वचः ॥334॥

अन्वयार्थ : ध्यानोद्धूत रजश्चया: ध्यान-मार्गज्ञा: भावि-योगि-हिताय इदं ध्वान्त-दीपसमं वच: रुचिरे ।
ध्यान द्वारा घातिकर्मरूपी रज-समूह को आत्मा से दूर करनेवाले ध्यान-मर्मज्ञ सर्वज्ञ भगवन्तों ने भावी साधक मुनिराजों के लिये अज्ञानरूपी अंधकार का नाश करनेवाला दीपस्तम्भ समान अगला / ध्यान का उपदेश दिया है ।

वाद-विवाद का फल -

वादानां प्रतिवादानां भाषितारो विनिश्चितम् ।
नैव गच्छन्ति तत्त्वान्तं गतेरिव विलम्बिनः ॥335॥

अन्वयार्थ : गते: विलम्बिन: इव वादानां प्रतिवादानां भाषितार: विनिश्चितं तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति ।
जिसप्रकार चलने में विलंब करनेवाला प्रमादी मनुष्य अपने इच्छित स्थान पर्यंत नहीं पहुँच पाता; उसीप्रकार जो कोई साधक वाद-प्रतिवाद के चक्कर में पडे रहते हैं, वे निश्चित रूप से तत्त्व के अंत को (परमात्म पद को) प्राप्त नहीं होते (संसार में ही भटकते रहते हैं) ।

सिद्ध होने का साक्षात् साधन -

विभक्तचेतन-ध्यानमत्रोपायं विदुर्जिनाः ।
गतावस्तप्रमादस्य सन्मार्ग-गमनं यथा ॥336॥

अन्वयार्थ : यथा गतौअस्तप्रमादस्य (मनुष्यस्य) सन्मार्ग-गमनं तथा विभक्तचेतन-ध्यानं अत्र उपायं (अस्ति इति) जिना: विदु: ।
जिसप्रकार प्रमाद **अर्थ**ात् आलस्य रहित मनुष्य का सन्मार्ग पर सतत गमन करना अपेक्षित स्थान पर्यंत पहुँचने का सच्चा उपाय है; उसीप्रकार परमात्म-पद प्राप्ति का अथवा तत्त्वांतगति अर्थात् मुक्ति में पहुँचने का उपाय विभक्त चेतन अर्थात् शुद्धात्मा के ध्यान को ही जिनेन्द्र भगवंतों ने बतलाया है ।

शुद्धात्म-ध्यान से कर्मों का नाश -

योज्यमानो यथा मन्त्रो विषं घोरं निषूदते ।
तथात्मापि विधानेन कर्मानेकभवार्जितम् ॥337॥
अन्वयार्थ : यथा योज्यमान: मन्त्र: घोरं विषं निषूदते तथा आत्मा अपि (ध्यान) विधानेन अनेक-भवार्जितं कर्म (निषूदते) ।
जिसप्रकार मंत्रज्ञ आत्मा विषापहार मंत्र का यथायोग्य प्रयोग करने पर सर्पादिक का घोर विष दूर करता है, उसीप्रकार आत्मा निज शुद्धात्मा के सम्यक्ध्यान से अनेक भवों में उपार्जित ज्ञानावरणादि कर्मसमूह को नष्ट करता है ।

शुद्धात्मा का ध्यान अलौकिक फलदाता -

चिन्त्यं चिन्तामणिर्दत्ते कल्पितं कल्पपादपः ।
अविचिन्त्यमसंकल्प्यं विविक्तात्मानुचिन्तितः ॥338॥
अन्वयार्थ : चिन्तामणि: चिन्त्यं दत्ते । कल्पपादप: कल्पितं (दत्ते, परंतु) अनुचिन्तित: विविक्तात्मा अविचिन्त्यं असंकल्प्यं (दत्ते) ।
चिंतामणि रत्न के सामने बैठकर जीव जिन वस्तुओं का चिंतन करता है, चिंतामणि रत्न उन वस्तुओं को जीव को देता है और कल्पवृक्ष कल्पित पदार्थों को देता है; परंतु त्रिकाली निज शुद्धात्मा का ध्यान जीव के लिये अचिंत्य और अकल्पित पदार्थों को देता है ।

शुद्धात्म-ध्यान से कामदेव का सहज नाश -

जन्म-मृत्यु-जरा-रोगा हन्यन्ते येन दुर्जयाः ।
मनोभू-हनने तस्य नायासः कोऽपि विद्यते ॥339॥
अन्वयार्थ : येन (शुद्धात्मन: ध्यानेन) दुर्जया: जन्म-मृत्यु-जरा-रोगा: हन्यन्ते तस्य मनोभूहनने क: अपि आयास: न विद्यते ।
जिस शुद्धात्मा के ध्यान से दुर्जय **अर्थ**ात् जीतने के लिये कठिन जन्म, जरा, मरण, रोग आदि जीव के विकार नाश को प्राप्त होते हैं, उस शुद्धात्मा को काम विकार के हनन में कोई भी नया श्रम करना नहीं पड़ता - वह तो उससे सहज ही विनाश को प्राप्त हो जाता है ।

वाद-विवाद अज्ञान अंधकारमय -

मुक्त्वा वाद-प्रवादाद्यमध्यात्मं चिन्त्यतां तत: ।
नाविधूते तमःस्तोमे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते ॥340॥
अन्वयार्थ : तत: वाद-प्रवादाद्यं मुक्त्वा अध्यात्मं चिन्त्यतां तम: स्तोमे अविधूते ज्ञानं ज्ञेये न प्रवर्तते ।
इसलिए वाद-विवाद, चर्चा-वार्ता, समझना-समझाना, सुनना-सुनाना, उपदेश आदि परिणामों को छोड़कर **अर्थ**ात् उपेक्षा करके आत्मा के परम स्वरूप का चिंतन करना चाहिए । धर्म-ज्ञानसंबंधी वाद-विवाद आदि पुण्यरूप परिणाम अंधकार-समूहरूप है, उसके नाश के बिना अपना प्रगट ज्ञान शुद्धात्मस्वरूप ज्ञेय में प्रवृत्त नहीं होता ।

समीचीन साधनों में आदर आवश्यक -

उपेयस्य यतः प्राप्तिर्जायते सदुपायतः ।
सदुपाये ततः प्राज्ञैर्विधातव्यो महादरः ॥341॥
अन्वयार्थ : यत: उपेयस्य (मोक्षस्य) प्राप्ति: सदुपायत: जायते । तत: प्राज्ञै: सदुपाये महा-आदर: विधातव्य: ।
क्योंकि उपेय **अर्थ**ात् मोक्षरूप साध्य की सिद्धि समीचीन साधनों से होती है; इसलिए विद्वानों को समीचीन साधनों अर्थात् सम्यक् उपाय करने में अतिशय आदर रखना चाहिए ।

आत्मचिंतन ही साधन -

नाध्यात्म-चिन्तनादन्यः सदुपायस्तु विद्यते ।
दुरापः स परं जीवैर्मोहव्यालकदर्थितैः ॥342॥
अन्वयार्थ : अध्यात्म-चिन्तनात् अन्य: सदुपाय: तु न विद्यते (तथा) मोहव्यालकदर्थितै: जीवै: स: (सदुपाय:) परं दुराप: (विद्यते) ।

अध्यात्म-चिंतन **अर्थ**ात् निज शुद्धात्म ध्यान से भिन्न दूसरा कोई परमात्मरूप साध्य का साधन नहीं है । विशेष बात यह है कि जो जीव मोहरूपी सर्प से डसे हुए हैं अथवा मोहरूपी हाथी से पीड़ित हैं, उनके लिये शुद्धात्मा का ध्यानरूपी सदुपाय अर्थात् उत्तम उपाय अत्यंत दुर्लभ है ।

आत्मध्यान की बाह्य सामग्री -

उत्साहो निश्चयो धैर्यं संतोषस्तत्त्वदर्शनम् ।
जनपदात्ययः षोढा सामग्रीयं बहिर्भवा ॥343॥

अन्वयार्थ : उत्साह:, निश्चय:, धैर्यं, सन्तोष:, तत्त्वदर्शनं, (च) जनपदात्यय: इयं षोढा बहिर्भवा सामग्री (अस्ति) ।

अध्यात्मचिंतन **अर्थ**ात् निज शुद्धात्मध्यान के लिये उत्साह, निश्चय अर्थात् स्थिर विचार, धैर्य, संतोष, तत्त्वदर्शन, जनपद-त्याग अर्थात् सामान्यजनों से संपर्क का त्याग यह छह प्रकार की बाह्य सामग्री है ।

आत्मध्यान की अंतरंग सामग्री -

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यास-रसेन च ।
त्रेधा विशोधयन् बुद्धिं ध्यानमाप्नोति पावनम् ॥344॥

अन्वयार्थ : आगमेन अनुमानेन ध्यानाभ्यास-रसेन च त्रेधा (स्व) बुद्धिं विशोधयन् (ध्यातासाधक:) पावनं ध्यानं आप्नोति ।

आगम से, अनुमान ज्ञान से और ध्यानाभ्यासरूप रस से - इन तीन प्रकार की पद्धति से अपनी बुद्धि को विशुद्ध करनेवाला ध्याता / साधक, पवित्र आत्मध्यान को प्राप्त होता है ।

विद्वत्ता का सर्वोत्तम फल -

आत्म-ध्यान-रतिर्ज्ञेयं विद्वत्तायाः परं फलम् ।
अशेष-शास्त्र-शास्तृत्वं संसारोऽभाषि धीधनैः ॥345॥

अन्वयार्थ : विद्वत्ताया: परं फलम् आत्म-ध्यान-रति: ज्ञेयं (अन्यथा) अशेष-शास्त्र-शास्तृत्वं संसार: (एव अस्ति इति) धीधनै: अभाषि ।

विद्वत्ता का सर्वोत्तम फल निज शुद्धात्म ध्यान में रति **अर्थ**ात् आत्मलीनता ही जानना चाहिए । यदि विद्वत्ता प्राप्त होने पर भी वह विद्वान मनुष्य आत्म-मग्नतारूप कार्य न करे तो संपूर्ण शास्त्रों का शास्त्रीपना अर्थात् जानना भी संसार ही है; ऐसा बुद्धिधनधारकों ने अर्थात् महान विद्वानों ने कहा है ।

विद्वानों का संसार -

संसारः पुत्र-दारादिः पुंसां सूंढचेतसाम् ।
संसारो विदुषां शास्त्रमध्यात्मरहितात्मनाम् ॥346॥

अन्वयार्थ : सूंढचेतसां पुंसां पुत्र-दारादि: (एव) संसार: (अस्ति; तथा) अध्यात्मरहितात्मनां विदुषां शास्त्रं संसार: (अस्ति) ।

जो मनुष्य स्त्री-पुत्रादिक परद्रव्य में आसक्त होने से अच्छी तरह मूढचित्त **अर्थ**ात् अज्ञानी हैं, उनका संसार स्त्री-पुत्रादिक है । जो विद्वान शास्त्रार्थ को जानते हुए भी अध्यात्म से अर्थात् आत्मलीनता से रहित हैं, उनका संसार शास्त्र है ।

सद्ध्यानरूपी खेती करने की प्रेरणा -

ज्ञान-बीजं परं प्राप्य मानुष्यं कर्मभूमिषु ।
न सद्ध्यानकृषेरन्तः प्रवर्तन्तेऽल्पमेधसः ॥347॥

अन्वयार्थ : कर्मभूमिषु परं मानुष्यं ज्ञान-बीजं (च) प्राप्य (ये) सत्-ध्यान-कृषे: अन्त: न प्रवर्तन्ते (ते) अल्पमेधस: (भवन्ति) ।

कर्मभूमियों में दुर्लभ मनुष्यता और सर्वोत्तम ज्ञानरूपी बीज को पाकर भी जो मनुष्य प्रशस्त ध्यानरूप खेती के भीतर प्रवृत्त नहीं होते **अर्थ**ात् मोक्षप्रदाता सम्यग्ध्यान की खेती नहीं करते, वे मनुष्य अल्पबुद्धि अर्थात् अज्ञानी है ।

मोहान्धकार को धिक्कार -

बडिशामिषवच्छेदो दारुणो भोग-शर्मणि ।
सक्तास्त्यजन्ति सद्ध्यानं धिगहो! मोह-तामसम् ॥348॥

अन्वयार्थ : भोग-शर्मणि बडिशामिषवत् दारुण: छेद: (भवति; तथापि ये भोग-शर्मणि) आसक्ता: (सन्ति ते) सद्ध्यानं त्यजन्ति, अहो ! मोह - तामसं धिक् ।

जिसप्रकार शिकारी की बंशी में लगे हुए मांस के टुकड़े को खाने की इच्छा से मछली को कण्ठच्छेद से अतिशय दुःख होता है; उसीप्रकार सर्वोत्तम ज्ञानरूपी बीज को पाकर भी इंद्रिय-सुख में आसक्त / दुःखी मनुष्य जिस मोह के कारण सद्ध्यान का त्याग करते हैं, उस मोहरूपी अंधकार को धिक्कार हो ।

मोही जीवों का स्वरूप -

आत्म-तत्त्वमजानाना विपर्यास-परायणाः ।
हिताहित-विवेकान्धाः खिद्यन्ते सांप्रतेक्षणाः ॥349॥

अन्वयार्थ : (ये जीवा:) आत्म-तत्त्वं-अजानाना, हित-अहित-विवेकान्धा:, विपर्यास परायणा: (सन्ति ते) सांप्रतेक्षणा: खिद्यन्ते ।

जो जीव निज आत्मतत्त्व को नहीं जानते, हित-अहित के विवेक में अंधे हैं **अर्थ**ात् अपने हित-अहित को नहीं पहिचानते, विपरीत आचरण करने में चतुर हैं और वर्तमान दृष्टिवंत अर्थात् स्पर्शादि विषयों का सेवन करने में ही सुख है, ऐसी श्रद्धा रखनेवाले हैं; वे जीव नियम से दुःखी हैं ।

मोही जीव को विरक्ति का अभाव -

आधि-व्याधि-जरा-जाति-मृत्यु-शोकाद्युपद्रवम् ।
पश्यन्तोऽपि भवं भीमं नोद्विजन्तेऽत्र मोहिनः ॥350॥

अन्वयार्थ : आधि-व्याधि-जरा-जाति-मृत्यु-शोकादि भीमं उपद्रवं भवं पश्यन्त: अपि मोहिन: अत्र न उद्विजन्ते ।

अनेक आधियों से **अर्थ**ात् मानसिक पीड़ाओं से, अनेक व्याधियों से अर्थात् शारीरिक कष्टप्रद रोगों से और जन्म, जरा, मरण तथा शोकादि उपद्रवों से सहित संसार का भयंकर रूप देखते एवं अनुभवते हुए भी मोही जीव संसार से विरक्त नहीं होते; परन्तु वे संसार में ही आसक्त रहते हैं ।

मिथ्यात्वजन्य परिणाम का दृष्टांत -

अकृत्यं दुर्धियः कृत्यं कृत्यं चाकृत्यमञ्जसा ।
अशर्म शर्म मन्यन्ते कच्छू-कण्डूयका इव ॥351॥

अन्वयार्थ : कच्छू-कण्डूयका इव दुर्धिय: (मनुष्या:) अञ्जसा अकृत्यं कृत्यं, कृत्यं अकृत्यं च अशर्म शर्म मन्यन्ते ।

जिसप्रकार दाद खुजानेवाले अज्ञानी मनुष्य दाद के खुजाने को अच्छा और सुखदायी समझते हैं; उसीप्रकार जो दुर्बुद्धि **अर्थ**ात् मिथ्यादृष्टि अथवा विपरीत बुद्धिधारक हैं, वे वास्तव में अकृत्य को कृत्य अर्थात् न करने योग्य कुकर्म को करने योग्य सुकर्म तथा कृत्य को अकृत्य अर्थात् करने योग्य सुकर्म को न करने योग्य कुकर्म और दुःख को सुख मानते हैं ।

तत्त्व-श्रवण से ध्यान -

क्षाराम्भस्त्यागतः क्षेत्रे मधुरोऽमृत-योगतः ।
प्ररोहति यथा बीजं ध्यानं तत्त्वश्रुतेस्तथा ॥352॥

अन्वयार्थ : यथा क्षाराम्भस्त्यागत: अमृत-योगत: क्षेत्रे बीजं मधुर: प्ररोहति तथा तत्त्वश्रुते: (योगत:) ध्यानं (प्ररोहति) ।

जिसप्रकार खारे जल के त्याग से और मीठे जल के संयोग से खेत में पडा हुआ बीज मधुर फल को उत्पन्न करता है; उसीप्रकार तत्त्व-

श्रवण के संयोग से सम्यग्ध्यान उत्पन्न होता है ।

तत्त्व-श्रवण की प्रेरणा -

क्षाराम्भःसदृशी त्याज्या सर्वदा भोग-शेमुषी ।
मधुराम्भोनिभा ग्राह्या यत्नात्तत्त्वश्रुतिर्बुधैः ॥353॥

अन्वयार्थ : (ध्यान की सिद्धि के लिए) बुधजनों के द्वारा भोगबुद्धि, जो खारे जल के समान है, सदा त्यागने योग्य है और तत्त्वश्रुति, जो कि मधुर जल के समान है, सदा ग्रहण करने योग्य है।

कुतर्क का स्वरूप -

बोधरोधः शमापायः श्रद्धाभंगोऽभिमानकृत् ।
कुतर्को मानसो व्याधिर्ध्यानशत्रुरनेकधा ॥354॥

अन्वयार्थ : कुतर्क: बोधरोध:, शमापाय:, श्रद्धाभंग: अभिमानकृत् (च) मानस: व्याधि: (तथा) अनेकधा ध्यानशत्रु: (अस्ति) ।
कुतर्क, ज्ञान को रोकनेवाला, शांति का नाशक, श्रद्धा को भंग / नष्ट करनेवाला और अभिमान को बढानेवाला मानसिक रोग है । ऐसा यह कुतर्क अनेक प्रकार से ध्यान का शत्रु है ।

दृढ़चित्त होना आवश्यक -

कुतर्केऽभिनिवेशोऽतो न युक्तो मुक्ति-कान्क्षिणाम् ।
आत्मतत्त्वे पुनर्युक्तः सिद्धिसौध-प्रवेशके ॥355॥

अन्वयार्थ : अत: मुक्ति-कान्क्षिणां कुतर्के अभिनिवेश: न युक्त: पुन: सिद्धिसौध-प्रवेशके आत्मतत्त्वे (अभिनिवेश:) युक्त: ।
इसलिए मोक्षाभिलाषी साधक-श्रावक एवं मुनिराजों को कुतर्क में अपने मन को **अर्थ**ात् व्यक्त विकसित ज्ञान को नहीं लगाना चाहिए; प्रत्युत अपने मन को निजात्म तत्त्व में जोडना अर्थात् दृढ़चित्त होना उचित है और यह कार्य स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धि-सदन में प्रवेश करने के लिए प्रवेश द्वार है ।

मुक्त जीव का स्वरूप -

विविक्तमिति चेतनं परम-शुद्ध-बुद्धाशयाः ।
विचिन्त्य सततादृता भवमपास्य दुःखास्पदम् ।
निरन्तमपुनर्भवं सुखमतीन्द्रियं स्वात्मजं ।
समेत्य हतकल्मषं निरुपमं सदैवासते ॥356॥

अन्वयार्थ : (ये) परम-शुद्ध-बुद्धाशया: विविक्तं इति चेतनं विचिन्त्य सतत-आदृता: दु:खास्पदं भवं अपास्य अपुनर्भवं समेत्य हतकल्मषं निरुपमं निरूपं अतीन्द्रियं स्वात्मजं सुखं सदैव आसते ।
जो परम शुद्ध-बुद्ध आशय के धारक हैं **अर्थ**ात् जिनके श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र आदि अनंत गुणों में मात्र त्रिकाली भगवान आत्मा ही उपादेयरूप से बसा हुआ है; जो कर्मरूपी कलंक से रहित निज शुद्धात्मा का ध्यान करके मात्र उसके प्रति ही अपना सर्वस्व समर्पित कर चुके हैं अर्थात् उसके संबंध में ही आदर-भक्ति रखते हैं; जो मात्र दुःखस्थानरूप संसार का त्याग कर अपुनर्भवरूप मोक्ष जो अपने ही आत्मा से उत्पन्न, सर्व पापों से रहित, अतीन्द्रिय, अनुपम और अनंतसुखरूप तिष्ठ रहे हैं; वे मुक्त जीव हैं ।

जिनलिंग धारण करना चाहिए -

विमुच्य विविधारम्भं पारतन्त्र्यकरं गृहम् ।
मुक्तिं यियासता धार्यं जिनलिंग पटीयसा ॥357॥

अन्वयार्थ : मुक्तिं यियासता पटीयसा विविधारम्भं पारतन्त्र्यकरं गृहं विमुच्य जिनलिंग धार्य् ।

जो भव्य मनुष्य मुक्ति-प्राप्त करने का इच्छुक हों, अति निपुण हों, उसे अनेक प्रकार के आरंभों से सहित और अत्यंत पराधीनता का कारण घर **अर्थ**ात् गृहस्थपने का त्याग कर यथाजात जिनलिंग अर्थात् दिगम्बर मुनिदीक्षा धारण करनी चाहिए ।

जिनलिंग का स्वरूप -

सोपयोगमनारम्भं लुञ्चित-श्मश्रु स्तकम् ।
निरस्त-तनु-संस्कारं सदा संग-विविर्जितम् ॥358॥
निराकृत-परापेक्षं निर्विकारमयाचनम् ।
जातरूपधरं लिंगं जैनं निर्वृति-कारणम् ॥359॥

अन्वयार्थ : सदा सोपयोगं, अनारम्भं, लुञ्चित-श्मश्रु-मस्तकं, निरस्त-तनु-संस्कारं, संग विवर्जितं, निराकृत-परापेक्षं, निर्विकारं, अयाचनं, जातरूपधरं जैनं लिंगं निर्वृति-कारणं (जायते) ।

जो सदा ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग से सहित है, सावद्यकर्मरूप आरम्भ से रहित है, जिसमें दाढी, मूँछ तथा मस्तक के केशों का लोंच किया जाता है, तेल मर्दनादि रूप में शरीर का संस्कार नहीं किया जाता, जो बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों से मुक्त, पर की अपेक्षा से रहित, याचना-विहीन, विकार-विवर्जित और जो नवजात शिशु के समान वस्त्राभूषण से रहित दिगम्बर स्वरूप है, वह जैन **अर्थ**ात् जिनलिंग है, जो कि मोक्ष की प्राप्ति में निमित्त कारण है ।

दीक्षागुरु एवं दीक्षार्थी का स्वरूप -

नाहं भवामि कस्यापि न किंचन ममापरम् ।
इत्यकिंचनतोपेतं निष्कषायं जितेन्द्रियम् ॥360॥
नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या जिनमुद्रा-विभूषितः ।
जायते श्रमणोऽसङ्गो विधाय व्रत-संग्रहम् ॥361॥

अन्वयार्थ : अहं कस्यापि न भवामि, अपरं मम किंचन न अस्ति - इति अकिंचनता-उपेतं निष्कषायं जितेन्द्रियं गुरुं भक्त्या नमस्कृत्य व्रत संग्रहं विधाय (य:) असङ्ग: जिनमुद्रा-विभूषित: जायते (स:) श्रमण: (अस्ति) ।

मैं किसी का नहीं हूँ और न कोई अन्य मेरा है - ऐसे अकिंचन/अपरिग्रह भाव से सहित निष्कषाय व जितेन्द्रिय गुरु को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके व्रतसमूह (अहिंसा महाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुण) को धारण करके जो परिग्रह रहित होता हुआ, जो जिनमुद्रा से विभूषित होता है, वह (दीक्षार्थी) श्रमण है ।

श्रमण के २८ मूलगुण -

महाव्रत-समित्यक्षरोधाः स्युः पञ्च चैकशः ।
परमावश्यकं षोढा, लोचोऽस्नानमचेलता ॥362॥
अदन्तधावनं भूमिशयनं स्थिति-भोजनम् ।
एकभक्तं च सन्त्येते पाल्या मूलगुणा यतेः ॥363॥

अन्वयार्थ : महाव्रत-समिति-अक्षरोधा: एकश: पञ्च स्यु: । च षोढ़ा परमावश्यकं, लोच:, अस्नानं, अचेलता, अदन्तधावनं, भूमिशयनं, स्थिति भोजनं, च एकभक्तं एते यते: मूलगुणा: पाल्या: सन्ति ।

अहिंसादि महाव्रत, ईर्यासमिति आदि समितियाँ, पाँच इंद्रियों के स्पर्शादि विषयों का निरोध - ये सभी पाँच-पाँच होते हैं और प्रतिक्रमणादि छह आवश्यक, सात इतर गुण - केशलोंच, अस्नान, अचेलता **अर्थ**ात् नग्नता, अदन्तधोवन, भूमिशयन, खड़े-खड़े करपात्र में भोजन और दिन में एक बार अनुद्दिष्ट भोजन - ये यति / मुनिराज के अट्ठाईस मुलगुण हैं; जिनका सदा पालन करना चाहिए ।

छेदोपस्थापक मुनिराज का स्वरूप -

निष्प्रमादतया पाल्या योगिना हितमिच्छता ।

सप्रमादः पुनस्तेषु छेदोपस्थापको यतिः ॥364॥

अन्वयार्थ : हितं इच्छता योगिना निष्प्रमादतया (मूलगुणा:) पाल्या: । पुन: तेषु सप्रमाद: यति: छेदोपस्थापक: (भवति) ।

जो योगी अपना हित चाहते हैं, उनको इन २८ मूलगुणों का प्रमादरहित होकर पालन करना चाहिए । जो इन मूलगुणों के पालन में प्रमादरूप प्रवर्तते हैं, वे योगी छेदोपस्थापक होते हैं । (मूल श्लोक में एकवचन का प्रयोग होने पर भी सरलार्थ में बहुान के लिए बहुवचन का प्रयोग किया है)

श्रमणों के दो भेद -

प्रव्रज्या-दायकः सूरिः संयतानां निगीर्यते ।

निर्यापकाः पुनः शेषाश्छेदोपस्थापका मताः ॥365॥

अन्वयार्थ : संयतानां प्रव्रज्या-दायक: सूरि: निगीर्यते । पुन: शेषा: (श्र्रणा:) छेदोपस्थापका: निर्यापका: मता: ।

जीवन में प्रथम बार दीक्षा लेनेवाले नवीन दीक्षार्थी संयमियों को जो मुनिराज दीक्षा देते हैं, उन दीक्षादाता मुनिराज को सूरि, आचार्य अथवा गुरु कहते हैं । पहले से ही दीक्षा प्राप्त मुनिराज के संयमपालन में कुछ दोष लगने पर दोष प्राप्त मुनिराज को आगमानुसार उपदेश देकर जो मुनिराज उनको पुनः संयम में स्थापित करते हैं, उन मुनिराज को निर्यापक कहते हैं ।

चारित्र में छेद होने पर उपाय -

प्रकृष्टं कुर्वतः साधोश्चारित्रं कायचेष्टया ।

यदि च्छेदस्तदा कार्या क्रियालोचन-पूर्विका ॥366॥

आश्रित्य व्यवहारज्ञं सूरिमालोच्य भक्तितः ।

दत्तस्तेन विधातव्यश्छेदश्छेदवता सदा ॥367॥

अन्वयार्थ : प्रकृष्टं चारित्रं कुर्वत: साधो: यदि कायचेष्टया च्छेद: (जायते), तदा आलोचनपूर्विका क्रिया कार्या । छेदवता (योगिना) व्यवहारज्ञं सूरिं आश्रित्य भक्तित: (स्वच्छेदं) आलोच्य तेन (सूरिणा) दत्त: छेद: सदा विधातव्य: ।

उत्तम चारित्र का अनुष्ठान करते हुए साधु के यदि काय की चेष्टा से दोष लगे - अन्तरंग से दोष न लगे - तो उसे (उस दोष के निवारणार्थ) आलोचन-पूर्वक क्रिया करनी चाहिए । यदि अन्तरंग से दोष हो जाये तो उसके कारण योगी छेद को प्राप्त सदोष होता है, उसे किसी व्यवहारशास्त्रज्ञ गुरु के आश्रय में जाकर भक्तिपूर्वक अपने दोष की आलोचना करनी चाहिए और वह जो प्रायश्चित दे उसे ग्रहण करना चाहिए ।

विहार करने की पात्रता -

भूत्वा निराकृतश्छेदश्चारित्राचरणोद्यतः ।

मुञ्चमानो निबन्धानि यतिर्विहरतां सदा ॥368॥

अन्वयार्थ : छेद: निराकृत: भूत्वा चारित्राचरण-उद्यत: यतिः निबन्धानि मुञ्चमान: सदा विहरताम् ।

छेदोपस्थापक मुनिराज पहले तो दोष रहित होवें, स्वीकार किये हुए चारित्र के आचरण करने में उद्यमी, उत्साही एवं दत्तचित्त **अर्थ**ात् विशेषरूप से सावधान रहें और (सर्वथा उपादेयस्वरूप निज भगवान आत्मा में मग्न/लीन होते हुए) किसी भी परद्रव्य में रागादि भावों को न करते हुए निरंतर विहार करें ।

पूर्ण श्रमणता का स्वामी -

शुद्ध-रत्नत्रयो योगी यत्नं मूलगुणेषु च ।

विधत्ते सर्वदा पूर्णं श्रामण्यं तस्य जायते ॥369॥

अन्वयार्थ : (य:) योगी शुद्ध-रत्नत्रय: च मूलगुणेषु सर्वदा यत्नं विधत्ते तस्य पूर्णं श्रामण्यं जायते ।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध रत्नत्रयस्वरूप धारक जो योगी **अर्थ**ात् मुनिराज २८ मूलगुणों के पालन करने में निरंतर परिपूर्ण प्रयत्न

करते हैं, उनको पूर्ण श्रमणता होती है ।

निर्ममत्व मुनिराज का स्वरूप -

उपधौ वसतौ संगे विहारे भोजने जने ।
प्रतिबन्धं न बध्नाति निर्ममत्वमधिष्ठितः ॥370॥

अन्वयार्थ : उपधौ वसतौ संगे विहारे भोजने जने निर्ममत्वं-अधिष्ठित: (योगी) प्रतिबन्धं न बध्नाति ।

आगम से मान्यता प्राप्त पीछी, कमंडलु, शास्त्ररूप धर्म के बाह्य साधनस्वरूप परिग्रह में अथवा देहमात्र परिग्रह में, निर्जन-जंगलस्थित निवासयोग्य गुफादिक आवासस्थान में, कथंचित् परिचित साधर्मी मुनिराजों में, शास्त्रानुसार किये जानेवाले विहारकार्य में, अनुद्दिष्ट सरस-नीरस आहार में, भक्ति करनेवाले भक्तजनों में निर्ममत्त्व को प्राप्त मुनिराज राग (ममत्व) नहीं करते ।

प्रमाद ही हिंसा में कारण -

अशने शयने स्थाने गमे चंक्रमणे ग्रहे ।
प्रमादचारिणो हिंसा साधोः सान्ततिकीरिता ॥371॥

अन्वयार्थ : अशने शयने स्थाने गमे चंक्रमणे ग्रहे प्रमादचारिण: साधो: सान्ततिकीरिता हिंसा ।

जो साधु खाने-पीने में, लेटने-सोने में, उठने-बैठने में, चलने-फिरने में, हस्तपादादिक के पसारने में, किसी वस्तु को पकड़ने में, छोड़ने या उठाने-धरने में प्रमाद करता है - यत्नाचार से प्रवृत्त नहीं होता - उसके निरन्तर हिंसा कही गयी है - भले ही वैसा करने में कोई जीव मरे या न मरे ।

प्रमाद-अप्रमाद का उदाहरण -

गुणायेदं सयत्नस्य दोषायेदं प्रमादिनः ।
सुखाय ज्वरहीनस्य दुःखाय ज्वरिणो घृतम् ॥372॥

अन्वयार्थ : (यथा) ज्वरहीनस्य घृतं सुखाय, ज्वरिण: दु:खाय (भवति) सयत्नस्य इदं (आचरणं) गुणाय, प्रमादिन: (च) इदं दोषाय (भवति)।

जिसप्रकार ज्वररहित मनुष्य को घी का सेवन शरीर के लिये सुखदाता सिद्ध होता है और उस ही घी का सेवन ज्वरसहित मनुष्य को दुःख का कारण बन जाता है; उसीप्रकार यत्नाचार से **अर्थ**ात् प्रमादरहित होकर किया गया खाना-पीना, लेटना-सोना आदि सब आचरण एक को गुणकारी अर्थात् संवर-निर्जरारूप धर्म का कारण सिद्ध होता है और अयत्नाचार से अर्थात् प्रमादसहित होकर किया गया वही खाना-पीना आदि सब आचरण दूसरे को दुःखकारी अर्थात् आस्रव-बंध का कारण बन जाता है ।

ज्ञान होने पर भी चारित्र मिथ्या -

ज्ञानवत्यपि चारित्रं मलिनं पर-पीडके ।
कज्जलं मलिनं दीपे सप्रकाशेऽपि तापके ॥373॥

अन्वयार्थ : (यथा) तापके दीपे सप्रकाशे (सति) अपि कज्जलं मलिनं (भवति)। परपीड के ज्ञानवति अपि चारित्रं मलिनं (भवति) ।

जिसप्रकार उष्णता प्रदायक दीपक में सुखदाता प्रकाश होने पर भी काजल मलिन होता है, उसीप्रकार सुखदाता सर्वज्ञ जिनेन्द्र-कथित शास्त्र का ज्ञान होने पर भी जिसके आचार-विचार-उच्चार से समाज या व्यक्तिविशेष को पीड़ा/ **अर्थ**ात् दुःख ही होता रहता है तो उसका चारित्र मलिन - अर्थात् मिथ्या होने से संसार-वर्धक सिद्ध होता है ।

भवाभिनन्दी का स्वरूप -

भवाभिनन्दिनः केचित् सन्ति संज्ञा-वशीकृताः ।
कुर्वन्तोऽपि परं धर्मं लोक-पंक्ति-कृतादराः ॥374॥

अन्वयार्थ : केचित् (जना:) परं धर्मं कुर्वन्त: अपि भवाभिनन्दिन: संज्ञा-वशीकृता: (वा) लोक-पंक्ति-कृतादरा: (सन्ति) ।
कुछ मनुष्य परम धर्म **अर्थ**ात् मुनिधर्म के बाह्य आचरण को आचरते हुए भी भवाभिनन्दी अर्थात् संसार का अभिनंदन करनेवाले अनंत संसारी भी होते हैं और आहार, भय, मैथुन तथा परिग्रह नाम की चार संज्ञाओं / अभिलाषाओं के आधीन होते हैं एवं लोकपंक्ति में आदर रखते हैं अर्थात् लोगों को प्रसन्न करने आदि में रुचि रखते हुए प्रवृत्त होते हैं ।

भवाभिनन्दी का ही पुनः स्पष्ट स्वरूप -

मूढा लोभपराः क्रूरा भीरवोऽसूयकाः शठाः ।
भवाभिनन्दिनः सन्ति निष्फलारम्भकारिणः ॥375॥
अन्वयार्थ : ये मूढा: लोभपरा: क्रूरा: भीरव: असूयका: शठा: निष्फल-आरम्भ-कारिण: (ते) भवाभिनन्दिन: सन्ति ।
जो मूढ **अर्थ**ात् मिथ्यादृष्टि, लोभ परिणाम करने में सदा तत्पर, अत्यन्त क्रूर स्वभावी, महा डरपोक, अतिशय ईर्षालु; विवेक से सर्वथा रहित, निरर्थक आरंभ करनेवाले जीव हैं, वे निश्चितरूप से भवाभिनन्दी अर्थात् अनन्त संसारी हैं ।

लोकपंक्ति का स्वरूप -

आराधनाय लोकानां मलिनेनान्तरात्मना ।
क्रियते या क्रिया बालैर्लोकपंक्तिरसौ मता ॥376॥
अन्वयार्थ : बालै: (अज्ञ-साधुभि:) मलिनेन-अन्तरात्मना लोकानां आराधनाय या क्रिया क्रियते असौ लोकपंक्ति: मता ।
मलिन अंतरंगवाले होने से **अर्थ**ात् बहिरात्मपर्याय से सहित होकर विषय-कषाय में अनुरक्त तत्त्वज्ञान से रहित अज्ञ साधुओं द्वारा जनसामान्य का अनुरंजन अर्थात् सामान्यजन को प्रसन्न करने एवं उनको अपनी ओर आकर्षित करने के लिये मिथ्या व्रतादिरूप क्रिया की जाती है, उसे लोकपंक्ति कहते हैं ।

लोकपंक्ति अर्थात् लोकानुरंजन भी कल्याणकारी -

धर्माय क्रियमाणा सा कल्याणागं मनीषिणाम् ।
तन्निमित्तः पुनर्धर्ः पापाय हतचेतसाम् ॥377॥
अन्वयार्थ : मनीषिणां धर्माय क्रियमाणा सा (लोकपंक्ति:) कल्याणागं (भवति) । पुन: हतचेतसां तन्निमित्त: (लोकपंक्तिनिमित्त:) धर्म: पापाय (भवति) ।
जो सम्यग्दृष्टि भेदविज्ञानी विद्वान् साधु हैं, उनकी धर्मप्रभावना अथवा जीवदया करने के अभिप्राय से की गयी उक्त लोकाराधना / लोकानुरंजनरूप क्रिया भी कल्याणकारिणी होती है और मिथ्यादृष्टि / अविवेकी साधु हैं, उनकी विषय-कषाय अथवा अज्ञान के कारण से की गई वही की वही - लोकानुरंजनरूप क्रिया पापबंध का कारण बन जाती है ।

आसन्नभव्य जीव को ही मुक्ति की प्राप्ति -

मुक्तिमार्गपरं चेतः कर्मशुद्धि-निबन्धनम् ।
मुक्तिरासन्नभव्येन न कदाचित्पुनः परम् ॥378॥
अन्वयार्थ : मुक्तिमार्गपरं चेत: कर्मशुद्धि-निबन्धनं (भवति), कदाचित् परं (चेत:) न । पुन: मुक्ति: आसन्नभव्येन (प्राप्यते) ।
मुक्ति प्राप्त करने के लिए जिन जीवों का चित्त मुक्तिमार्ग में अति तत्परता से संलग्न है, उनकी चित्त की वह एकाग्रता कर्मरूपी मल के नाश का कारण है; जो चित्त मुक्तिमार्ग पर आरूढ़ नहीं है, उसके द्वारा कभी भी कर्मों का नाश नहीं होता है और मुक्ति की प्राप्ति आसन्नभव्य जीव को ही होती है ।

भवाभिनन्दी, मुक्ति का द्वेषी -

कल्मष-क्षयतो मुक्तिर्भोग-संगमवर्जिनाम् ।

भवाभिनन्दिनामस्यां विद्वेषो मुग्धचेतसाम् ॥379॥
अन्वयार्थ : भोग-संगम-वर्जिनां कल्मष-क्षयत: मुक्ति: (जायते) । मुग्धचेतसां भवाभिनन्दिनां अस्यां (मुक्त्यां) विद्वेष: (वर्तते) ।
जो पंचेंद्रियों के स्पर्शादि भोग्यरूप विषयों के संपर्क से रहित हैं अथवा इंद्रिय-विषयों के भोगों से और संपूर्ण बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह से सर्वथा विरक्त हैं, उन मुनिराजों के ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का नाश होने से उन्हें मुक्ति की प्राप्ति होती है । मूढचित्त **अर्थ**ात् मिथ्यादृष्टि भवाभिनन्दी जीवों का इस मुक्ति से अतिशय द्वेषभाव रहता है ।

सम्यक्त्व का माहात्म्य -

नास्ति येषामयं तत्र भवबीज-वियोगतः ।
तेऽपि धन्या महात्मानः कल्याण-फल-भागिनः ॥380॥
अन्वयार्थ : येषां भवबीज-वियोगत: तत्र (मुक्त्यां) अयं (विद्वेष:) न अस्ति, ते महात्मान: अपि धन्या: च कल्याण-फल-भागिन: (सन्ति) ।
जिनके जीवन में अनंत दुःख का कारणरूप भवबीज **अर्थ**ात् मिथ्यादर्शन का वियोग / अभाव होने से मुक्तिसंबंधी का द्वेषभाव नहीं रहा, वे महात्मा भी धन्य हैं, प्रशंसनीय हैं और वे कल्याणरूप फल के भागी हैं ।

मुक्तिमार्ग के नाशक जीव -

संज्ञानादिरुपायो यो निर्वृतेर्वर्णितो जिनैः ।
मलिनीकरणे तस्य प्रवर्तन्ते मलीमसाः ॥381॥
अन्वयार्थ : निर्वृते: य: संज्ञानादि: उपाय: जिनै: वर्णित: (अस्ति), मलीमसा: तस्य मलिनीकरणे प्रवर्तन्ते ॥२५॥
जिनेन्द्र देवों ने कहा हुआ मुक्ति के उपायभूत रत्नत्रयस्वरूप सम्यग्ज्ञानादि को मलिनचित्त जीव मलिन करने में प्रवृत्त होते हैं ।

आराधना तथा विराधना का फल -

आराधने यथा तस्य फलमुक्तमनुत्तरम् ।
मलिनीकरणे तस्य तथानर्थो बहुव्यथः ॥382॥
अन्वयार्थ : यथा तस्य (निर्वृते: उपायस्य) आराधने अनुत्तरम् फलं उक्तं तथा तस्य (निर्वृते: उपायस्य) मलिनीकरणे अनर्थ: तथा बहुव्यथ: (उक्त:)।
मोक्षमार्ग की आराधना के फलरूप में अनुपम मुक्ति की प्राप्ति होती है और जो जीव मोक्षमार्ग की विराधना करता है, उसको निगोदादि अवस्थारूप अनर्थ अवस्था की प्राप्तिपूर्वक महादुःखरूप फल मिलता है ।

दृष्टान्तपूर्वक आत्मविराधना के फल का कथन -

तुंगारोहणतः पातो यथा तृप्तिर्विषान्नतः ।
यथानर्थोऽवबोधादि-मलिनीकरणे तथा ॥383॥
अन्वयार्थ : यथा तुंगारोहणत: पात: यथा विषान्नत: तृप्ति: अनर्थ: (कारक: भवति) तथा अवबोधादि-मलिनीकरणे (अनर्थ: भवति) ।
जिसप्रकार पर्वत से नीचे गिरना तथा विषमिश्रित भोजन से तृप्ति का अनुभव करना - दोनों महा अनर्थकारी **अर्थ**ात् मरण का ही कारण है; उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानादि को मलिन अर्थात् दूषित करना अत्यंत अनर्थकारी है अर्थात् दुःखरूप संसार में भटकने का कारण है ।

प्रमाद ही बंध का मूल -

अयत्नचारिणो हिंसा मृते जीवेऽमृतेऽपि च ।
प्रयत्नचारिणो बन्धः समितस्य वधेऽपि नो ॥384॥
अन्वयार्थ : जीवे मृते च अमृते अपि अयत्नाचारिण: हिंसा (भवति । तथा) समितस्य प्रयत्नाचारिण: वधे अपि बन्ध: न (भवति) ।
जो साधक यत्नाचार रहित **अर्थ**ात् प्रमाद सहित है; उसके निमित्त से अन्य जीव के मरने तथा न मरने पर भी हिंसा का पाप होता है और

जो साधक ईर्यादि समितियों से युक्त हुआ - यत्नाचारी अर्थात् प्रमाद रहित है, उसके निमित्त से अन्य जीव का घात होने पर भी हिंसा के पाप जन्य कर्म का बंध नहीं होता ।

प्रमाद रहित साधक का उदाहरण सहित कथन -

पादमुत्क्षिपतः साधोरीर्यासमिति-भागिनः ।
यद्यपि म्रियते सूक्ष्मः शरीरी पाद-योगतः ॥385॥
तथापि तस्य तत्रोक्तो बन्धः सूक्ष्मोऽपि नागमे ।
प्रमाद-त्यागिनो यद्वन्निर्मूर्च्छस्य परिग्रहः ॥386॥

अन्वयार्थ : यद्वत् निर्मूर्च्छस्य परिग्रह: (न उक्त: तद्वत्) यद्यपि ईर्यासमिति-भागिन: साधो: पादं-उत्क्षिपत: पाद-योगत: सूक्ष्म: शरीरी म्रियते तथापि तत्र आगमे तस्य प्रमाद-त्यागिन: सूक्ष्म: अपि बन्ध: न उक्त: ।

जिसप्रकार मूर्च्छा **अर्थ**ात् ममता रहित जीव के परिग्रह पाप नहीं कहा जाता, उसीप्रकार यद्यपि ईर्या समिति से सहित अर्थात् भले प्रकार देख-देखकर सावधानी से चलते हुए योगी के पैर को उठाकर रखते समय कभी-कभी सूक्ष्म जंतु (उड़ता हुआ) पैर तले आकर मर जाता है; तथापि जिनागम में उस प्रमादत्यागी योगी के उस जीवघात से सूक्ष्म भी बंध का होना नहीं कहा गया है ।

प्रमादी साधक का स्वरूप -

प्रमादी त्यजति ग्रन्थं बाह्यं मुक्त्वापि नान्तरम् ।
हित्वापि कञ्चुकं सर्पो गरलं न हि मुञ्चते ॥387॥

अन्वयार्थ : यथा सर्प: कञ्चुकं हित्वा अपि गरलं न हि मुञ्चते (तथा) प्रमादी बाह्यं ग्रन्थं मुक्त्वापि आन्तरं न त्यज्यति ।

जिसप्रकार अतिशय विषैला सर्प काँचली को छोड़कर भी विष को नहीं छोडता है तो उसका काँचली का छोड़ना व्यर्थ है; उसीप्रकार जो प्रमादी साधक **अर्थ**ात् मुनिराज हैं वे बाह्य परिग्रह को छोड़कर भी अंतरंग परिग्रह को नहीं छोडते हैं तो उनका बाह्य परिग्रह का छोडना व्यर्थ है ।

मात्र बाह्यशुद्धि अविश्वसनीय -

अन्तःशुद्धिं बिना बाह्या न साश्वासकरी मता ।
धवलोऽपि बको बाह्ये हन्ति मीनानेकशः ॥388॥

अन्वयार्थ : (यथा) बक: बाह्ये धवल: अपि अनेकश: मीनान् हन्ति । तथा अन्त:शुद्धिं विना बाह्या (शुद्धिं) साश्वासकरी न मता ।

जैसे बगुला बाह्य में धवल / उज्ज्वल होने पर भी अंतरंग अशुभ परिणामों से अनेक मछलियों को मारता ही रहता है; वैसे अन्तरंग की शुद्धि के बिना **अर्थ**ात् निश्चयधर्मरूप वीतरागता के अभाव में मात्र बाह्यशुद्धि अर्थात् मात्र २८ मूलगुणों के पालनरूप व्यवहारधर्म / द्रव्यलिंगपना विश्वास के योग्य नहीं है अर्थात् कुछ कार्यकारी नहीं है - संसारवर्धक ही है ।

प्रमाद और अप्रमादभाव का फल -

योगी षट्स्वपि कायेषु सप्रमादः प्रबध्यते ।
सरोजमिव तोयेषु निष्प्रमादो न लिप्यते ॥389॥

अन्वयार्थ : तोयेषु सरोजं इव (य:) योगी (षट्सु अपि कायेषु) निष्प्रमाद: (वर्तते स: कर्मणा) न लिप्यते । (य: योगी) षट्सु अपि कायेषु सप्रमाद: (वर्तते स: कर्मणा) प्रबध्यते ।

जिसप्रकार जल में कमल जल से सर्वथा अस्पर्शित रहता है **अर्थ**ात् जल का कमल से किंचित् भी स्पर्श नहीं होता; उसीप्रकार जो योगी प्रमाद से षट्काय जीवों की हिंसा में प्रवृत्त नहीं होते, वे ज्ञानावरणादि कर्मों से नहीं बंधते और जो प्रमाद से षट्काय जीवों की हिंसा में प्रवृत्त होते हैं, वे कर्मों से बंधते हैं ।

परिग्रह से बंध अनिवार्य -

साधुर्यतोऽगिंघातेऽपि कर्मभिर्बध्यते न वा ।
उपधिभ्यो ध्रुवो बन्धस्त्याज्यास्तैः सर्वथा ततः ॥390॥

अन्वयार्थ : (यत:) अगिंघातेऽपि साधु: कर्मभि: बध्यते वा न (बध्यते)। तु उपधिभ्य: ध्रुव: बन्ध: (भवति) । तत: तै: (साधुभि:) सर्वथा (उपधय:) त्याज्या: (सन्ति) ।

आहार-विहारादि के समय मुनिराज के शरीर की क्रिया के निमित्त से और प्रमादरूप परिणाम के सद्भाव से अन्य जीव की हिंसा होने पर मुनिराज को कर्म का बंध होता है । और कभी कायचेष्टा के कारण जीव के घात होनेपर भी यदि प्रमादरूप परिणाम न हों तो कर्म का बंध नहीं होता; परंतु परिग्रह के कारण नियम से कर्म का बंध होता ही है । इसलिए मुनिराज परिग्रह का सर्वथा त्याग करते हैं ।

अति अल्प परिग्रह भी बाधक -

एकत्राप्यपरित्यक्ते चित्तशुद्धिर्न विद्यते ।
चित्तशुद्धिं बिना साधोः कुतस्त्या कर्म-विच्युतिः ॥391॥

अन्वयार्थ : एकत्र अपि अपरित्यक्ते (उपधौ) चित्तशुद्धि: न विद्यते । (च) चित्तशुद्धिं विना साधो: कर्म-विच्युति: कुतस्त्या ?

यदि मुनिराज एक भी परिग्रह का त्याग नहीं करेंगे (अत्यल्प भी परिग्रह का स्वीकार करेंगे) तो - उनके चित्त की पूर्णतः विशुद्धि नहीं हो सकती और चित्तशुद्धि के बिना साधु की कर्मों से मुक्ति कैसे होगी ?

चेलखण्ड धारक साधु की स्थिति -

'सूत्रोक्त' मिति गृह्णानश्चेलखण्डमिति स्फुट् ।
निरालम्बो निरारम्भः संयतो जायते कदा ॥392॥

अन्वयार्थ : (य:) संयत: सूत्रोक्तं इति (मत्वा) चेलखण्डं स्फुटं गृह्णान: निरालम्ब: (च) निरारम्भ: कदा जायते ? (कदा अपि नैव) ।

जो संयमी **अर्थ**ात् मुनिराज 'आगम में कहा है' ऐसा कहकर खण्डवस्त्र / लंगोट आदि बाह्य परिग्रह को स्पष्टतया धारण करते हैं, वे निरालम्ब और निरारम्भ कब हो सकते हैं ?

वस्त्र-पात्रग्राही साधु की स्थिति -

अलाबु-भाजनं वस्त्रं गृह्णतोऽन्यदपि ध्रुवम् ।
प्राणारम्भो यतेश्चेतोव्याक्षेपो वार्यते कथम् ॥393॥

अन्वयार्थ : अलाबु-भाजनं वस्त्रं (तथा) अन्यत् अपि ध्रुवं गृह्णत: यते: प्राणारम्भ:, (च) चेतोव्याक्षेप: कथं वार्यते ? (नैव वार्यते)?

तुम्बी पात्र, वस्त्र तथा और भी कम्बलादि परिग्रह को निश्चितरूप से ग्रहण करनेवाले साधु के प्राणवध और चित्त का विक्षेप **अर्थ**ात् चंचलता का कैसे निवारण किया जा सकता है ?

परिग्रह से मन की अस्थिरता अनिवार्य -

स्थापनं चालनं रक्षां क्षालनं शोषणं यतेः ।
कुर्वतो वस्त्रपात्रादेर्व्याक्षेपो न निवर्तते ॥394॥

अन्वयार्थ : वस्त्र-पात्रादे: स्थापनं चालनं रक्षां क्षालनं शोषणं कुर्वत: यते: व्याक्षेप: न निवर्तते ।

जो योगी/साधु वस्त्र-पात्रादि का रखना-धरना, चलाना, रक्षा करना, धोना, सुखाना आदि करता है, उसके चित्त का विक्षेप **अर्थ**ात् अस्थिरता नहीं मिटती ।

परिग्रहासक्त को आत्माराधना असंभव -

आरम्भोऽसंयमो मूर्च्छा कथं तत्र निषिध्यते ।

परद्रव्यरतस्यास्ति स्वात्म-सिद्धिः कुतस्तनी ॥395॥
अन्वयार्थ : तत्र (पूर्वोक्त-स्थितौ) आरम्भ: असंयम: (तथा) मूर्च्छा कथं निषिध्यते ? पर-द्रव्य-रतस्य स्वात्म-सिद्धि: कुतस्तनी अस्ति ।
वस्त्र-पात्रादि की व्यवस्था करते हुए आरम्भ, असंयम तथा ममता का निषेध कैसे हो सकता है ? और इसतरह परद्रव्य में आसक्त साधु के स्वात्मसिद्धि कैसी ?

ग्राह्य उपधि / परिग्रह का स्वरूप -

न यत्र विद्यते च्छेदः कुर्वतो ग्रह-मोक्षणे ।
द्रव्यं क्षेत्रं परिज्ञाय साधुस्तत्र प्रवर्तताम् ॥396॥
अन्वयार्थ : द्रव्यं क्षेत्रं परिज्ञाय ग्रह-मोक्षणे कुर्वत: यत्र च्छेद: न विद्यते तत्र साधु: प्रवर्तताम् ।
द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को भले प्रकार जानकर जिन बाह्य परिग्रह का ग्रहण-त्याग करते हुए साधु के दोष नहीं लगते, उनमें साधु को प्रवृत्त होना चाहिए ।

अग्राह्य परिग्रह का स्वरूप -

संयमो हन्यते येन प्रार्थ्यते यदसंयतैः ।
येन संपद्यते मूर्च्छा तन्न ग्राह्यं हितोद्यतैः ॥397॥
अन्वयार्थ : हितोद्यतै: (साधुभि:) तत् न ग्राह्यं येन संयम: हन्यते, येन मूर्च्छा संपद्यते, (तथा) यत् असंयतै: प्रार्थ्यते ।
जो साधु अपनी हित की साधना में उद्यमी हैं, वे उन पदार्थों को ग्रहण नहीं करते, जिनसे उनकी संयम की हानि हो; ममत्व परिणाम की उत्पत्ति हो अथवा जो पदार्थ असंयमी के द्वारा प्रार्थित हो (जिन्हें असंयमी लोग निरंतर चाहते हैं) ।

मोक्षाभिलाषी साधु का स्वरूप -

मोक्षाभिलाषिणां येषामस्ति कायेऽपि निस्पृहा ।
न वस्त्वकिंचनाः किंचित् ते गृह्णन्ति कदाचन ॥398॥
अन्वयार्थ : येषां मोक्षाभिलाषिणां काये अपि निस्पृहा अस्ति ते अकिंचना: (साधव:) कदाचन किंचित् वस्तु न गृह्णन्ति ।
मात्र मोक्ष की अभिलाषा रखनेवाले साधुजन अपने शरीर से भी विरक्त रहते हैं; इसकारण अपरिग्रह-महाव्रत के धारक मुनिराज अत्यल्प भी बाह्य परिग्रह को कदाचित् भी ग्रहण नहीं करते ।

जिनधर्म में स्त्रियों के लिंग संबंधी प्रश्न -

यत्र लोकद्वयापेक्षा जिनधर्मे न विद्यते ।
तत्र लिंगं कथं स्त्रीणां सव्यपेक्षमुदाहृतम् ॥399॥
अन्वयार्थ : यत्र जिनधर्मे लोकद्वयापेक्षा न विद्यते तत्र स्त्रीणां लिंगं सव्यपेक्षं कथम् उदाहृतम् ?
जिस जिनेन्द्र से उपदेशित वीतराग धर्म में दोनों लोकों की अपेक्षा नहीं पायी जाती **अर्थ**ात् इहलोक तथा परलोक को लक्ष्य करके धर्म नहीं किया जाता, उस जिनधर्म में स्त्रियों के लिंग को अपेक्षा सहित / वस्त्र-प्रावरण की अपेक्षा रखनेवाला कैसे कहा गया?

स्त्रीरूप पर्याय से मुक्ति न होने का प्रथम कारण -

नामुना जन्मना स्त्रीणां सिद्धिर्निश्चयतो यतः ।
अनुरूपं ततस्तासां लिंगं लिंगविदो विदुः ॥400॥
अन्वयार्थ : यत: स्त्रीणां अमुना जन्मना सिद्धि: निश्चयत: न (भवति) । तत: लिंगविद: तासां अनुरूपं लिंगं विदु: ।
क्योंकि स्त्रियों के अपने इस जन्म से **अर्थ**ात् स्त्री-पर्याय से सिद्धि / मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती; इसलिए लिंग के जानकार जिनेन्द्र देवों ने उनके अनुरूप लिंग का उपदेश दिया है ।

स्त्रियों की प्रमाद-बहुलता-दूसरा कारण -

प्रमाद-मय-मूर्तीनां प्रमादोऽतो यतः सदा ।

प्रमदास्तास्ततः प्रोक्ताः प्रमाद-बहुलत्वतः ॥401॥

अन्वयार्थ : यत: प्रमाद-मय-मूर्तीनां (स्त्रीणां) सदा प्रमाद: (वर्तते), तत: प्रमाद-बहुलत्वत: ता: प्रमदा: प्रोक्ता: ।

क्योंकि प्रमादमय/प्रमादमूर्तिरूप स्त्रियों के सदा प्रमाद बना रहता है; अतः प्रमाद की बहुलता के कारण स्त्रियों को प्रमदा कहा गया है; इसलिए उन्हें मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती ।

स्त्रियों के मोहादि की बहुलता तीसरा कारण -

विषादः प्रमदो मूर्च्छा जुगुप्सा मत्सरो भयम् ।

चित्ते चित्रायते माया ततस्तासां न निर्वृतिः ॥402॥

अन्वयार्थ : (तासां स्त्रीणां) चित्ते विषाद: प्रमद: मूर्च्छा जुगुप्सा मत्सर: भयं तथा माया चित्रायते, तत: तासां निर्वृति: न (जायते) ।

क्योंकि स्त्रियों के चित्त में प्रमद, विषाद, ममता, ग्लानि, ईर्ष्या, भय तथा माया चित्रित रहती है, इससे स्त्रियों को / स्त्री-पर्याय से मुक्ति नहीं होती ।

दोष की अनिवार्यता चौथा कारण -

न दोषेण बिना नार्यो यतः सन्ति कदाचन ।

गात्रं च संवृतं तासां संवृतिर्विहिता ततः ॥403॥

अन्वयार्थ : यत: दोषेण विना नार्य: कदाचन न सन्ति । तासां च गात्रं संवृति: विहिता (भवति)। तत: (तेभ्य:) संवृतं (व्यवस्था प्रोक्तम्) ।

क्योंकि स्त्रियाँ पूर्वोक्त अनेक दोषों में से किसी न किसी दोष के बिना कदाचित् भी नहीं होती इसलिए उनका गात्र - अंग-उपांग स्पष्टतः संवृत्त **अर्थ**ात् स्वभाव से ही वस्त्र से ढका हुआ रहता है; इसलिए उनके लिये वस्त्र-आवरण सहित लिंग की व्यवस्था की गई / कही गयी है ।

निर्वाण को रोकनेवाला पाँचवाँ कारण -

शैथिल्यमार्तवं चेतश्चलनं स्रावणं तथा ।

तासा सूक्ष्म-मनुष्याणामुत्पादोऽपि बहुस्तनौ ॥404॥

अन्वयार्थ : तासां (स्त्रीणां शरीरे) शैथिल्यं, आर्तवं, स्रावणं, चेत: चलनं तथा तनौ सूक्ष्म-मनुष्याणां बहु: उत्पाद: अपि (जायते) ।

क्योंकि उन स्त्रियों के शरीर में शिथिलता, ऋतुकाल, रक्तस्राव, चित्त की चंचलता और उनके अंग-उपांग में लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म मनुष्यों का उत्पाद होता रहता है । (इस कारण अहिंसा महाव्रत का पालन/संयम का पालन नहीं हो पाता) ।

शरीर में जीवों की उत्पत्ति छठा कारण -

कक्षा-श्रोणि-स्तनाद्येषु देह-देशेषु जायते ।

उत्पत्तिः सूक्ष्म-जीवानां यतो, नो संयमस्ततः ॥405॥

अन्वयार्थ : यत: (स्त्रीणां) कक्षा-श्रोणि-स्तनाद्येषु देह-देशेषु सूक्ष्म-जीवानां उत्पत्ति: जायते, तत: (तासां) संयम: न: (जायते) ।

क्योंकि स्त्रियों के कांख, योनि, स्तनादिक शरीर के अंग-उपांगों में सूक्ष्म जीवों की बहुत उत्पत्ति होती है, इसलिए उनके सकल संयम नहीं बनता ।

स्त्री-पर्याय में दिगंबरता का अभाव -

शशंकामल-सम्यक्त्वाः समाचार-परायणाः ।

सचेलास्ताः स्थिता लिंगे तपस्यन्ति विशुद्धये ॥406॥

अन्वयार्थ : शशंकामल-सम्यक्त्वा: समाचार-परायणा: (च) ता: (स्त्रिय: अपि) लिंगे सचेला: स्थिता: विशुद्धये तपस्यन्ति ।
जो स्त्रियाँ चंद्रमा के समान निर्मल सम्यक्त्व से सहित हैं और आगम-कथित समीचीन आचरण में प्रवीण हैं, वे स्त्रियाँ भी सवस्त्ररूप से स्थित हुई आत्मशुद्धि के लिये तपश्चरण करती हैं । (दिगम्बरता का स्वीकार नहीं कर पाती) ।

जिनलिंग-ग्रहण के योग्य पुरुष -

शान्तस्तपःक्षमोऽकुत्सो वर्णेष्वेकतमस्त्रिषु ।
कल्याणान्गो नरो योग्यो लिंगस्य ग्रहणे मतः ॥407॥
अन्वयार्थ : शान्त:, तप:क्षम:, अकुत्स:, त्रिषु वर्णेषु एकतम: कल्याणान्ग: (च) नर: लिंगस्य ग्रहणे योग्य: मत: ।
जो मनुष्य शान्त हैं, तपःश्चरण करने में समर्थ हैं, सर्व प्रकार के दोषों से रहित हैं, तीन वर्ण - ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य में से किसी एक वर्ण का धारक हैं, कल्याणरूप **अर्थ**ात् निरोग शरीर के धारक हैं और शरीर के सुंदर अंगोपांगों से सहित हैं; वे ही पुरुष जिनलिंग के ग्रहण करने के लिये योग्य माने गये हैं ।

जिनलिंग-ग्रहण में बाधक व्यंग -

कुल-जाति-वयो-देह-कृत्य-बुद्धि-क्रुधादयः ।
नरस्य कुत्सिता व्यंगास्तदन्ये लि'योग्यता ॥408॥
अन्वयार्थ : कुत्सिता: कुल-जाति-वय:-देह-कृत्य-बुद्धि-क्रुधादय: नरस्य व्यंग: (सन्ति) । तद् अन्ये (सुकुलादय:) लिंगयोग्यता ।
जिनलिंग के ग्रहण करने में कुकुल, कुजाति, कुवय, कुकृत्य, कुबुद्धि और कुक्रोधादिक ये मनुष्य के जिनलिंग ग्रहण करने में व्यंग हैं/भंग हैं/बाधक हैं । इनसे भिन्न सुकुल, सुजाति आदि जिनलिंग-ग्रहण करने की योग्यता लिये हुए हैं ।

व्यंग का वास्तविक स्वरूप -

येन रत्नत्रयं साधोर्नाश्यते मुक्तिकारणम् ।
स व्यंगे भण्यते नान्यस्तत्त्वतः सिद्धिसाधने ॥409॥
अन्वयार्थ : तत्त्वत: येन साधो: मुक्तिकारणं रत्नत्रयं नाश्यते स: सिद्धिसाधने व्यंग: भण्यते अन्य: न ।
वास्तव में जिस कारण से साधु का मोक्ष के लिए उपायभूत रत्नत्रयरूप धर्म नाश को प्राप्त होता है, उस कारण को सिद्धावस्थारूप सिद्धि के साधन में व्यंग अथवा भंग कहते हैं, अन्य कोई बाधक कारण नहीं है ।

व्यंग हमेशा व्यंग ही रहता है -

यो व्यावहारिको व्यंगे मतो रत्नत्रय-ग्रहे ।
न सोऽपि जायतेऽव्यंग: साधोः सल्लेखना-कृतौ ॥410॥
अन्वयार्थ : य: रत्नत्रय-ग्रहे व्यावहारिक: व्यंग: मत: स: अपि सल्लेखना-कृतौ साधो: अव्यंग: न जायते ।
मुनियोग्य रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये जो व्यावहारिक व्यंग माने गये हैं, वे ही व्यंग कोई मनुष्य (मरण समीप जानकर) सल्लेखना के अवसर पर मुनि-अवस्था धारण करना चाहे तो उसके लिये भी वे व्यंग ही बने रहते हैं, अव्यंग नहीं हो जाते ।

श्रमण कौन होता है

यस्येह लौकिकी नास्ति नापेक्षा पारलौकिकी ।
युक्ताहारविहारोऽसौ श्रमणः सममानसः ॥411॥
अन्वयार्थ : यस्य (महापुरुषस्य) इह न लौकिकी अपेक्षा अस्ति न पारलौकिकी; युक्ताहार-विहार: असौ (महापुरुष:) सममानस: श्रमण: (अस्ति) ।
जिस महामानव को इहलोक एवं परलोक संबंधी भोगादिक की अपेक्षा नहीं है **अर्थ**ात् जो भोगों से सर्वथा निरपेक्ष हैं, जो सर्वज्ञ कथित

आगम के अनुसार योग्य आहार-विहार से सहित हैं और जो समचित्त के धारक/राग-द्वेष से रहित हैं अर्थात् अनंतानुबंधी आदि तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक वीतराग परिणाम से परिणमित हैं, वे ही महापुरुष श्रमण हैं ।

अप्रमत्त अनाहारी श्रमण का स्वरूप -

कषाय-विकथा-निद्रा-प्रोक्षार्थ-परांमुखाः ।
जीविते मरणे तुल्याः शत्रौ मित्रे सुखेऽसुखे ॥412॥
आत्मनोऽन्वेषणा येषां भिक्षा येषामणेषणा ।
संयता सन्त्यनाहारास्ते सर्वत्र समाशयाः ॥413॥

अन्वयार्थ : (ये संयता:) कषाय-विकथा-निद्रा-प्रोक्षार्थ (प्रे-अक्ष-अर्थ)-परांमुखा: जीविते (च) मरणे शत्रौ मित्रे सुखे असुखे तुल्या: (भवन्ति)। येषां आत्मन: अन्वेषणा च येषां अणेषणा भिक्षा (प्रचलति), ते सर्वत्र समाशया: संयता: अनाहारा: सन्ति ।

जो मुनिराज क्रोधादि चार कषायों से, स्त्रीकथादि चार विकथाओं से, स्पर्शादि प्रीतिकर पाँच इन्द्रियविषयों से, निद्रा एवं स्नेहरूप इन पन्द्रह प्रमाद परिणामों से विमुख/रहित हैं **अर्थ**ात् शुद्धोपयोग में मग्न/लीन रहते हैं; जीवन-मरण, शत्रु-मित्र एवं सुख-दु:ख में समताभाव / वीतरागभाव धारण करते हैं, जो सतत आत्मा की अन्वेषणा/खोज में लगे रहते हैं (अर्थात् जो शुद्धोपयोग अथवा शुद्धपरिणतिजन्य आनन्द का रसास्वादन करते रहते हैं) जिनका आहार इच्छा से रहित अर्थात् नियम से अनुदिष्ट/सहज प्राप्त रहता है, जो अनुकूल-प्रतिकूल सब संयोग-वियोग में सर्वत्र सदा राग-द्वेष परिणामों से रहित अर्थात् वीतराग परिणाम से परिणमित रहते हैं, उन मुनिराजों को अनाहारी संयत कहते हैं ।

देहमात्र परिग्रहधारी साधु का स्वरूप -

यः स्वशक्तिमनाच्छाद्य सदा तपसि वर्तते ।
साधुः केवलदेहोऽसौ निष्प्रतीकार-विग्रहः ॥414॥

अन्वयार्थ : य: निष्प्रतीकार-विग्रह: स्व-शक्तिं अनाच्छाद्य सदा तपसि वर्तते, असौ केवलदेह: (देहमात्रपरिग्रह:) साधु: (अस्ति) ।

जो मुनिराज शरीर का प्रतिकार **अर्थ**ात् शोभा, शृंगार, तेल मर्दनादि संस्कार करनेरूप राग परिणाम से रहित हैं, संयोगों में प्राप्त अपनी शरीर की सामर्थ्य और पर्यायगत अपनी आत्मा की पात्रता को न छिपाते हुए सदा अंतरंग एवं बाह्य तपों को तपने में तत्पर रहते हैं, वे देहमात्र परिग्रहधारी साधु हैं ।

मुनिराज के आहार का स्वरूप -

एका सनोदरा भुक्तिर्मांस-मध्वादिवर्जिता ।
यथालब्धेन भैक्षेण नीरसा परवेश्मनि ॥415॥

अन्वयार्थ : (पूर्वोक्त-साधो:) भुक्ति: पर-वेश्मनि भैक्षेण यथालब्धेन एकासनोदरा मांस-मधु आदि-वर्जिता नीरसा (भवति) ।

देहमात्र परिग्रहधारी मुनिराज/श्रमण का आहार नियम से पराये घर पर ही होता है । वह आहार भिक्षा से प्राप्त, यथालब्ध, ऊनोदर के रूप में, दिन में एकबार, मद्य-मांस आदि सदोष पदार्थों से रहित और मधुर/मीठा रस आदि रसों से रहित प्राय: नीरस ही होता है ।

मांस के साथ निगोदी जीवों का संबंध -

पक्वेऽपक्वे सदा मांसे पच्यमाने च संभवः ।
तज्जातीनां निगोदानां कथ्यते जिनपुंगवैः ॥416॥

अन्वयार्थ : पक्वे, अपक्वे, च पच्यमाने मांसे जिनपुंगवै: तज्जातीनां निगोदानां सदा संभव: कथ्यते ।

मांस चाहे कच्चा हो, चाहे आग से पकाया गया हो, चाहे आग पर पक रहा हो - तीनों प्रकार के उस मांस में जिनेन्द्र देवों ने जिस जीव का मांस है - उस ही जाति के निगोदिया जीव रूप में निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं ।

मांस के कारण अनिवार्य हिंसा -

मांसं पक्वमपक्वं वा स्पृश्यते येन भक्ष्यते ।
अनेकाः कोटयस्तेन हन्यन्ते किल जन्मिनाम् ॥417॥

अन्वयार्थ : येन (मनुष्येन) पक्वं अपक्वं वा मासं स्पृश्यते वा भक्ष्यते तेन (मनुष्येन) किल जन्मिनां अनेका: कोटय: हन्यन्ते ।

जो मनुष्य कच्चे मांस को अथवा आग से पकाये हुए मांस को मात्र स्पर्श करता है अथवा खाता है, वह मनुष्य निश्चितरूप से करोड़ों जीवों की हिंसा करता है ।

मधु-भक्षण में हिंसा का महादोष -

बहुजीव-प्रघातोत्थं बहु-जीवोद्भवास्पदम् ।
असंयम-विभीतेन त्रेधा मध्वपि वर्ज्यते ॥418॥

अन्वयार्थ : बहुजीव-प्रघातोत्थं (च) बहुजीवोद्भवास्पदं मधु: अपि असंयम-विभीतेन (साधुना) त्रेधा (मनसा-वचसा-कायेन) वर्ज्यते ।

मधु स्वभाव से ही अनेक जीवों के घात से उत्पन्न होता है और वह मधु अनेक जीवों के जन्म-मरण का भी स्थान है । इसलिए असंयम/हिंसा से भयभीत साधु मन-वचन-काय से मधुभक्षण का त्याग करते हैं ।

अन्य भी अनेक अभक्ष्य पदार्थ -

कन्दो मूलं फलं पत्रं नवनीतमगृघ्नुभिः ।
अनेषणीयमग्राह्यमन्नमन्यदपि त्रिधा ॥419॥

अन्वयार्थ : अगृघ्नुभि: (साधुभि:) कन्द: मूलं फलं पत्रं नवनीतं अन्यत् अपि अग्राह्यं अन्नं त्रिधा (त्याज्यं भवति) ।

भोजन में लालसा रहित साधु कन्द, मूल, फल, फूल, पत्र, मक्खन आदि अभक्ष्य पदार्थ एवं उद्गमादि दोषों से दूषित होने से अग्राह्य ऐसे अन्न / भोजनादि का भी मन-वचन-काय से और कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग करते हैं ।

मुनिराज के हाथ में प्राप्त अन्न दूसरे को देय नहीं -

पिण्डः पाणि-गतोऽन्यस्मै दातुं योग्यो न युज्यते ।
दीयते चेन्न भोक्तव्यं भुंक्ते चेद् दोषभाग् यतिः ॥420॥

अन्वयार्थ : पाणि-गत: पिण्ड: अन्यस्मै दातुं योग्य: न युज्यते, दीयते चेत् (यतिना पुन:) न भोक्तव्य:, भुंक्ते चेत् यति: दोषभाग् (भवति)।

दातारों से मुनिराज के हाथ में प्राप्त हुआ प्रासुक आहार दूसरों को देनेयोग्य नहीं है । यदि मुनिराज हस्तगत आहार दूसरे को देते हैं तो उन्हें उस समय पुन: आहार नहीं लेना चाहिए । यदि वे मुनिराज हस्तगत अन्न अन्य को देकर भी स्वयं उसी समय आहार ग्रहण करते हैं तो वे दोष के भागी होते हैं ।

चारित्र-आचरण में यथायोग्य दिशाबोध -

बालो वृद्धस्तपोग्लानस्तीव्रव्याधि-निपीडितः ।
तथा चरतु चारित्रं मूलच्छेदो यथास्ति नो ॥421॥

अन्वयार्थ : बाल: वृद्ध:, तप: ग्लान: तीव्रव्याधि-निपीडित: (साधु:) तथा चारित्रं चरतु यथा मूलच्छेद: नो अस्ति ।

जो मुनिराज छोटी उमर के (बालक) हों, वृद्ध-अवस्था को प्राप्त हुए हों, दीर्घकाल से उपवासादिक अनुष्ठान करनेवाले तपस्वी हों, रोगादिक से जिनका शरीर कृश हुआ हों अथवा किसी तीव्र व्याधि से शरीर पीड़ित हों, उन्हें चारित्र का उसप्रकार से पालन करना चाहिए, जिससे मूलगुणों का विच्छेद अथवा चारित्र का मूलत: विनाश न होने पावे ।

स्वल्पलेपी मुनिराज का स्वरूप -

आहारमुपधिं शय्यां देशं कालं बलं श्रमम् ।

वर्तते यदि विज्ञाय 'स्वल्पलेपो' यतिस्तदा ॥422॥
अन्वयार्थ : यदि यति: आहारं उपधिं शय्यां देशं कालं बलं (च) श्रमं विज्ञाय वर्तते, तदा (स:) स्वल्पलेप: (भवति) ।
यदि यति/मुनिराज आहार, परिग्रह, देश, काल, बल और श्रम को भले प्रकार जानकर प्रवृत्त होते हैं तो वे अल्पलेपी होते हैं **अर्थ**ात् मुनिराज को थोड़े कर्म का बंध होता है ।

तपस्वी मुनिराज को अकरणीय कार्य -

संयमो हीयते येन येन लोको विराध्यते ।
ज्ञायते येन संक्लेशस्तन्न कृत्यं तपस्विभिः ॥423॥
अन्वयार्थ : येन संयम: हीयते, येन लोक: विराध्यते (तथा) येन संक्लेश: ज्ञायते तत् (कार्यं) तपस्विभि: न कृत्यं ।
जिनके द्वारा मुनि जीवन में स्वीकृत संयम की हानि हों, एकेन्द्रियादिक जीवों को पीड़ा पहुँचती हों एवं स्वयं को तथा परजीवों को संक्लेश परिणाम उत्पन्न होते हों - ऐसे कार्य मुनिराजों को नहीं करना चाहिए ।

आगम के अध्ययन में प्रवृत्ति की प्रेरणा -

एकाग्रनसः साधोः पदार्थेषु विनिश्चयः ।
यस्मादागमतस्तस्मात् तस्मिन्नाद्रियतां तराम् ॥424॥
अन्वयार्थ : यस्मात् एकाग्रनस: साधो: पदार्थेषु विनिश्चय: आगमत: (भवति) । तस्मात् तस्मिन् (आगमे) तराम् आद्रियताम् ।
तीन लोक में स्थित सर्व पदार्थ संबंधी यथार्थ निर्णय/निश्चय एकाग्रचित्त के धारक साधु को जिनेन्द्रकथित आगम के अध्ययन से ही होता है । इसलिए साधु को विशेष आदर से आगम में प्रवृत्ति करना चाहिए **अर्थ**ात् आगम एवं परमागम का अध्ययन अत्यंत सूक्ष्मता से तथा सन्मानपूर्वक करना आवश्यक है ।

जिनेन्द्रकथित आगम ही प्रमाण है -

परलोकविधौ शास्त्रं प्रमाणं प्रायशः परम् ।
यतोऽत्रासन्नभव्यानामादरः परमस्ततः ॥425॥
अन्वयार्थ : यत: परलोकविधौ शास्त्रं प्रायश: परं प्रमाणं (अस्ति) । तत: आसन्नभव्यानां अत्र (शास्त्रे) परम: आदर: (वर्तते) ।
क्योंकि परलोक **अर्थ**ात् अगले एवं पिछले परभव के संबंध में शास्त्र अर्थात् सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान से कथित आगम ही परम / सर्वोत्तम प्रमाण अर्थात् सत्य है । इसलिए निकट भव्य जीवों को शास्त्र में प्रतिपादित तत्त्व के सम्बन्ध में परम/सर्वोत्कृष्ट आदर वर्तता है ।

शास्त्र संबंधी आदर का सहेतुक कथन -

उपदेशं विनाप्यंगी पटीयानर्थकामयोः ।
धर्मे तु न बिना शास्त्रादिति तत्रादरो हितः ॥426॥
अन्वयार्थ : अंगी (संसारी जीव:) अर्थ-कामयो: उपदेशं विना अपि पटीयान् (भवति) । (परंतु) धर्मे तु विना शास्त्रादि न (प्रवर्तते) इति तत्र (शास्त्रे) आदर: हित: (भवति) ।
चतुर्गतिरूप दु:खद संसार में स्थित मनुष्यादि सब जीव **अर्थ** और काम पुरुषार्थों के साधनों में उपदेश के बिना भी निपुण रहते हैं अर्थात् प्रवृत्ति करते ही हैं, परन्तु धर्म पुरुषार्थ के साधनों में शास्त्र के बिना अनादिकाल से कोई भी जीव प्रवृत्त नहीं होता; इसलिए शास्त्र-संबंधी आदर होना अतिशय हितकारक है ।

प्रवृत्ति के अभाव से पुरुषार्थ की विभिन्नता -

अर्थकामाविधानेन तदभावः परं नृणाम् ।
धर्माविधानतोऽनर्थस्तदभावश्च जायते ॥427॥

अन्वयार्थ : नृणां अर्थकाम-अविधानेन तदभाव: (जायते); परं धर्म-अविधानत: तदभाव: च अनर्थ: जायते ।
अर्थ एवं कामपुरुषार्थ के साधनों में प्रवृत्ति न करने से किसी मनुष्य के जीवन में इन दोनों पुरुषार्थों का कदाचित् अभाव हो सकता है; परन्तु धर्मपुरुषार्थ के साधनों में प्रवृत्ति न करने से धर्मपुरुषार्थ का मात्र अभाव ही नहीं होता, धर्मपुरुषार्थ के साधनों में अनर्थ अर्थात् विपरीतता भी घटित होती है । अतः धर्मपुरुषार्थ के साधनों में प्रवृत्ति आवश्यक है ।

एक शास्त्रज्ञान/तत्त्वज्ञान ही जीवों को मार्गदर्शक -

तस्माद्धर्मार्थिभिः शश्वच्छास्त्रे यत्नो विधीयते ।
मोहान्धकारिते लोके शास्त्रं लोक-प्रकाशकम् ॥428॥
अन्वयार्थ : तस्मात् धर्मार्थिभि: शास्त्रे शश्वत्यत्न: विधीयते । मोह-अन्धकारिते लोके शास्त्रं (एव) लोक-प्रकाशकं (भवति) ।
इसलिए जो भव्यात्मा वास्तविकरूप से यथार्थ धर्म के अभिलाषी **अर्थ**ात् इच्छुक हैं, वे सदा शास्त्रोपदेश की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं । अति दुःखद-मोहरूपी अंधकार से परिपूर्ण व्याप्त जगत में एक शास्त्र ही अनंत जीवों को यथार्थ उपाय दिखानेवाले दीपक के समान प्रकाशक / मार्गदर्शक है ।

शास्त्र की और विशेषता -

मायामयौषधं शास्त्रं शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम् ।
चक्षुः सर्वगतं शास्त्रं शास्त्रं सर्वार्थसाधकम् ॥429॥
अन्वयार्थ : शास्त्रं मायामयौषधं, शास्त्रं पुण्यनिबन्धनं, शास्त्रं सर्वगतं चक्षु: (च) शास्त्रं सर्वार्थसाधकं (भवति) ।
क्रोध-मान-माया-लोभकषायरूपी रोग की सच्ची-सफल दवा शास्त्र है । सातिशय पुण्यपरिणाम एवं पुण्यकर्मबंध का सर्वोत्तम कारण शास्त्र है । जीवादि छह द्रव्य, सप्त तत्त्व अथवा नौ पदार्थों को सम्यक् रूप से दिखानेवाला / स्पष्ट करनेवाला शास्त्र ही चक्षु है और इस भव तथा परभव के सर्व प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाला भी शास्त्र ही है ।

शास्त्र-भक्ति रहित साधक का स्वरूप -

न भक्तिर्यस्य तत्रास्ति तस्य धर्म-क्रियाखिला ।
अन्धलोकक्रियातुल्या कर्मदोषादसत्फला ॥430॥
अन्वयार्थ : यस्य तत्र (शास्त्रे) भक्ति: न अस्ति तस्य अखिला धर्म-क्रिया कर्मदोषात् अन्ध-लोक-क्रिया-तुल्या असतफला (भवति) ।
जिस साधक की आगम **अर्थ**ात् शास्त्र के प्रति भक्ति नहीं है अर्थात् अनादर है, उसकी सब धर्म-क्रियायें कर्म-दोष के कारण अंध-व्यक्ति की क्रिया के समान व्यर्थ तथा विपरीत फलदाता होती है ।

उदाहरण सहित शास्त्र की उपयोगिता -

यथोदकेन वस्त्रस्य मलिनस्य विशोधनम् ।
रागादि-दोष-दुष्टस्य शास्त्रेण मनसस्तथा ॥431॥
अन्वयार्थ : यथा मलिनस्य वस्त्रस्य उदकेन विशोधनं (भवति) । तथा रागादि-दोष-दुष्टस्य मनस: शास्त्रेण (विशोधनं)।
जिसप्रकार मलिन वस्त्र जल से शुद्ध/पवित्र/निर्मल होता है, उसीप्रकार रागद्वेषादि से दूषित साधक का मन शास्त्र के अध्ययनादि से निर्मल **अर्थ**ात् वीतरागरूप बन जाता है ।

शास्त्र के अध्ययन की पुनः प्रेरणा -

आगमे शाश्वती बुद्धिर्मुक्तिस्त्री-शंफली यतः ।
ततः सा यत्नतः कार्या भव्येन भवभीरुणा ॥432॥
अन्वयार्थ : यत: आगमे (युक्ता) शाश्वती बुद्धि: मुक्तिस्त्री-शंफली (इव अस्ति) । तत: भवभीरूणा भव्येन यत्नत: सा (आगमे बुद्धि:)

कार्या ।

शास्त्र के अध्ययन-मनन-चिंतन आदि में निरंतर संलग्न बुद्धि मुक्तिरूपी स्त्री की प्राप्ति के लिये दूती के समान काम करती है; इसलिए संसार **अर्थ**ात् राग-द्वेषादि परिणामों से उत्पन्न दुःख से भयभीत भव्य जीवों को अपनी बुद्धि को प्रयत्नपूर्वक शास्त्र में लगाना चाहिए ।

शास्त्रज्ञान से रहित साधक का स्वरूप -

कान्तारे पतितो दुर्गे गर्ताद्यपरिहारतः ।
यथाऽन्धो नाश्नुते मार्गमिष्टस्थान-प्रवेशकम् ॥433॥
पतितो भव-कान्तारे कुमार्गापरिहारतः ।
तथा नाप्नोत्यशास्त्रज्ञो मार्ग मुक्तिप्रवेशकम् ॥434॥

अन्वयार्थ : यथा दुर्गे कान्तारे पतित: अन्ध: गर्तादि-अपरिहारत: इष्ट-स्थान-प्रवेशकं मार्गं न अश्नुते, तथा भव-कान्तारे पतित: अशास्त्रज्ञ: कुमार्ग-अपरिहारत: मुक्ति-प्रवेशकं मार्गं न आप्नोति ।

जिसप्रकार दुर्ग वन में पड़ा **अर्थ**ात् फँसा हुआ अँधा मनुष्य खड्डे आदि प्रतिकूल स्थानों का परित्याग न कर सकने से अपने इष्ट अर्थात् अभिप्रेत स्थान में प्रवेश करानेवाले मार्ग को नहीं पा सकता है । उसीप्रकार चतुर्गतिरूप दुःखद संसार-वन में भटकता हुआ शास्त्रज्ञान से रहित जीव कुमार्ग का त्याग न कर सकने से मुक्ति में प्रवेश करानेवाले मोक्षमार्ग को प्राप्त नहीं होता अर्थात् उस सन्मार्ग पर नहीं लगता, जिसपर चलने से मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

यतः समेऽप्यनुष्ठाने फलभेदोऽभिसन्धितः ।
स ततः परमस्तत्र ज्ञेयो नीरं कृषाविव ॥435॥
बहुधा भिद्यते सोऽपि रागद्वेषादिभेदतः ।
नानाफलोपभोक्तृणां नृणां बुद्ध्यादिभेदतः ॥436॥

अन्वयार्थ : यत: समे अनुष्ठाने (सति) अपि कृषौ नीरं (परम:) इव (परिणामत:) फलभेद: अभिसन्धित: (भवति) । तत: तत्र (फलप्राप्तौ) स: (परिणाम:) परम: ज्ञेय: । स: (परिणाम:) अपि राग-द्वेषादि भेदत: (तथा) नानाफलोपभोक्तृणां नृणां बुद्ध्यादिभेदत: बहुधा भिद्यते ।

जिसप्रकार खेती में जोतने-बीज बोने आदि रूप बाह्य कार्य समान होने पर भी उस खेत में दिये जानेवाले जल को विशेष स्थान प्राप्त है **अर्थ**ात् जल समय पर एवं आवश्यक मात्रा में देने न देने के कारण फसलरूप फल अर्थात् कार्य हीनाधिक होता है । उसीप्रकार पुण्य-पापरूप बाह्य-क्रिया/कार्य समान होने पर भी जीव के हीनाधिक शुभाशुभ परिणाम के अनुसार कर्म-फल में भेद होता है । इसलिए कर्म-फल की प्राप्ति में जीव के परिणाम / अभिप्राय को मुख्य स्थान प्राप्त है । वह जीव का अभिप्राय भी राग-द्वेषादि के भेद से तथा कर्म-फल का उपभोग करनेवाले विविध मनुष्यों की बुद्धि आदि के भेद से अनेक प्रकार का है ।

फल-भोगनेवालों में भेद के कारण -

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहस्त्रिविधः प्रक्रमः स्मृतः ।
सर्वकर्माणि भिद्यन्ते तद्भेदाच्च शरीरिणाम् ॥437॥

अन्वयार्थ : बुद्धि: ज्ञानम् असंमोह: (इति) त्रिविध: प्रक्रम: स्मृत: । तद्भेदात् च (बुद्ध्यादि-भेदात्) शरीरिणां सर्वकर्माणि भिद्यन्ते ।

बुद्धि, ज्ञान और असंमोह - इन तीनों से कर्म-फल में भेद होता है और इनसे ही देहधारी जीवों के सब कार्य भेद को प्राप्त होते हैं ।

बुद्धि आदि का स्वरूप -

बुद्धिमक्षाश्रयां तत्र ज्ञानमागमपूर्वकम् ।
तदेव सदनुष्ठानमसंमोहं विदो विदुः ॥438॥

अन्वयार्थ : विद: तत्र (बुद्ध्यादिभेदेषु) अक्षाश्रयां बुद्धिम्, आगमपूर्वकं ज्ञानं, तत् (ज्ञानम्) एव सदनुष्ठानं (प्राप्नोति तदा) असंमोहं विदु: ।

विज्ञ पुरुषों ने बुद्धि आदि की परिभाषा निम्नानुसार स्पष्ट की है - इंद्रियाश्रित भाव को बुद्धि कहते हैं । आगमपूर्वक उत्पन्न जाननरूप

परिणाम को ज्ञान कहते हैं और जब आगमपूर्वक प्राप्त ज्ञान ही सत्य अनुष्ठान को **अर्थ**ात् निर्मोहरूप स्थिरता को प्राप्त होता है, तब उसे असम्मोह कहते हैं ।

बुद्ध्यादि पूर्वक कार्यों के फलभेद की दिशासूचना -

चारित्रदर्शनज्ञानतत्स्वीकारो यथाक्रमम् ।
तत्रोदाहरणं ज्ञेयं बुद्ध्यादीनां प्रसिद्धये ॥439॥

अन्वयार्थ : (यत्) यथाक्रमं चारित्र-दर्शन-ज्ञान-तत्-स्वीकार: (अस्ति) । तत्र बुद्ध्यादिनां प्रसिद्धये उदाहरणं ज्ञेयम् ।

चारित्र-दर्शन-ज्ञान का यथाक्रम स्वीकार **अर्थ**ात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र के क्रम से जो स्वीकार है, उसमें बुद्धि आदि की प्रसिद्धि के लिए यहाँ उदाहरणरूप से भेद को जानना चाहिए ।

बुद्धिपूर्वक कार्य का फल -

बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि समस्तानि तनूभृताम् ।
संसारफलदायीनि विपाकविरसत्वतः ॥440॥

अन्वयार्थ : तनूभृतां बुद्धिपूर्वाणि समस्तानि कर्माणि विपाकविरसत्वत: (भवन्ति । तत: तानि) संसारफलदायीनि (एव सन्ति) ।

बुद्धिपूर्वक कार्य **अर्थ**ात् इंद्रियों के निमित्त से होनेवाले सब कार्य फलकाल में विभावरूप से व्यक्त होते हैं; इसलिए देहधारी जीवों के वे सर्व कार्य संसार-फलदाता ही है ।

ज्ञानपूर्वक कार्य का फल -

तान्येव ज्ञान-पूर्वाणि जायन्ते मुक्तिहेतवे ।
अनुबन्धः फलत्वेन श्रुतशक्तिनिवेशितः ॥441॥

अन्वयार्थ : तानि (बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि) एव (यदा) ज्ञान-पूर्वाणि जायन्ते (तदा ते) मुक्तिहेतवे (जायन्ते; यत:) श्रुतशक्तिनिवेशित: अनुबन्ध: फलत्वेन ।

बुद्धिपूर्वक होनेवाले कार्य ही जब आगम-ज्ञानपूर्वक होने लगते हैं तो वे ही कार्य मोक्ष के लिये कारणरूप **अर्थ**ात् मोक्षमार्गरूप बन जाते हैं; क्योंकि श्रुतशक्ति को लिये हुए जो अनुराग है वह क्रम से / परंपरा से मोक्षरूप फल का दाता हो जाता है ।

असंमोहपूर्वक कार्य का फल -

सन्त्यसंमोहहेतूनि कर्माण्यत्यन्तशुद्धितः ।
निर्वाणशर्मदायीनि भवातीताध्वगामिनाम् ॥442॥

अन्वयार्थ : (यानि) कर्माणि असंमोहहेतूनि सन्ति (तानि) अत्यन्त-शुद्धित: भवातीताध्व- गामिनां निर्वाणशर्मदायीनि (भवन्ति)।

जो कार्य असंमोहपूर्वक **अर्थ**ात् वीतरागमय होते हैं, वे कार्य अत्यंत शुद्धि के कारण एवं स्वतः शुद्ध होते हैं; इसलिए भवातीतमार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग पर चलनेवालों को निर्वाण / मोक्ष सुख के प्रदाता होते हैं ।

मोक्षमार्गारूढ़ जीवों का स्वरूप -

भावेषु कर्मजातेषु मनो येषां निरुद्यमम् ।
भव-भोग-विरक्तास्ते भवातीताध्वगामिनः ॥443॥

अन्वयार्थ : कर्मजातेषु भावेषु येषां मन: निरुद्यमं (अस्ति) । ते भव-भोग-विरक्ता: (साधव:) भवातीताध्वगामिन: (भवन्ति) ।

कर्मोदय से उत्पन्न परिणामों में तथा कर्मोदय से प्राप्त संयोगी बाह्य पदार्थों में जिन साधक जीवों का मन उद्यम रहित है, वे भव एवं भोगों से विरक्त साधक जीव भवातीतमार्गगामी (मोक्षमार्गी) हो जाते हैं ।

साधक अनेक, पर साधन एक ही -

एक एव सदा तेषां पन्थाः सम्यक्त्वचारिणाम् ।
व्यक्तीनामिव सामान्यं दशाभेदेऽपि जायते ॥444॥

अन्वयार्थ : (यथा) व्यक्तीनां दशाभेदे अपि सामान्यं इव सम्यक्त्वचारिणां तेषां पन्था: सदा एक एव जायते ।

जिसप्रकार अनेक व्यक्तियों में विशेष अवस्थाओं की अपेक्षा अनेक भेद होने पर भी मनुष्यत्व अथवा जीवत्व की अपेक्षा एकपना ही है । उसीप्रकार मोक्षमार्गी सम्यक्त्व तथा चारित्रवान अनेक जीवों में गति, शरीर, ज्ञान आदि की अपेक्षा से कुछ भेद होने पर भी वीतरागमय मोक्षमार्ग की अपेक्षा कुछ भेद/अंतर नहीं है । उन सबमें वीतरागमय मोक्षमार्गरूप धर्म एक ही है ।

वस्तुतः निर्वाणपद एक ही -

निर्वाणसंज्ञितं तत्त्वं संसारातीतलक्षणम् ।
एकमेवावबोद्धव्यं शब्दभेदेऽपि तत्त्वतः ॥445॥

अन्वयार्थ : संसारातीतलक्षणं निर्वाणसंज्ञितं तत्त्वं शब्दभेदे अपि तत्त्वत: एकं एव अवबोद्धव्यम् ।

शास्त्र में ज्ञानियों ने अनेक शब्दों द्वारा एक ही मोक्ष तत्त्व को कहा है; तथापि संसार से अतीत इस लक्षण को प्राप्त निर्वाण **अर्थ**ात् मोक्षतत्त्व वस्तुतः एक ही है, अनेक नहीं; ऐसा जानना चाहिए ।

निर्वाण / मोक्ष के लिए अन्य-अन्य नाम -

विमुक्तो निर्वृतः सिद्धः परंब्रह्माभवः शिवः ।
अन्वर्थः शब्दभेदेऽपि भेदस्तस्य न विद्यते ॥446॥

अन्वयार्थ : विमुक्त:, निर्वृत:, सिद्ध:, परंबह्म, अभव: (तथा) शिव: अन्वर्थ: शब्दभेदे अपि तस्य (अर्थ-) भेद: न विद्यते ।

विमुक्त, निर्वृत, सिद्ध, परंब्रह्म, अभव तथा शिव ये सब शब्द अन्वर्थक हैं **अर्थ**ात् इन शब्दों का एक निर्वाण/मोक्ष ही अर्थ है, अन्य नहीं । विमुक्त आदि में शब्द-भेद होने पर भी इनमें एक शब्द के वाच्य का दूसरे शब्द के वाच्य के साथ वास्तव में अर्थ-भेद नहीं है अर्थात् निर्वृत आदि शब्द का अर्थ एक मात्र निर्वाण/मोक्ष ही है ।

तीन विशेषणों से विशिष्ट निर्वाणतत्त्व -

तल्लक्षणाविसंवादा निराबाधमकल्मषम् ।
कार्यकारणतातीतं जन्ममृत्युवियोगतः ॥447॥

अन्वयार्थ : तत्-लक्षण-अविसंवादा: (निर्वाणतत्त्वस्य लक्षणे अविसंवादा: जिना:) निराबाधं, अकल्मषं, जन्ममृत्युवियोगत: (च) कार्यकारणातीतं (निर्वाणतत्त्वं) कथयन्ति ।

निर्वाण/मोक्षतत्त्व के लक्षण को अत्यन्त स्पष्ट एवं यथार्थ जाननेवाले सर्वज्ञ जिनेंद्रदेव मोक्षतत्त्व को निराबाध, अकल्मष और कार्यकारणातीत - इन तीन विशेषणों से सहित कहते हैं ।

वीतरागता से विवाद का अभाव -

ज्ञाते निर्वाण-तत्त्वेऽस्मिन्नसंमोहेन तत्त्वतः ।
मुमुक्षूणां न तद्युक्तौ विवाद उपपद्यते ॥448॥

अन्वयार्थ : तत्त्वत: असंमोहेन ज्ञाते अस्मिन् निर्वाण-तत्त्वे मुमुक्षूणां तद्युक्तौ विवाद: न उपपद्यते ।

मोक्षतत्त्व को असंमोहरूप से **अर्थ**ात् वीतरागतापूर्वक यथार्थरूप से जानने पर मुमुक्षुओं को मोक्षसंबंधी युक्तियों के कथन में विवाद (मतभेद) नहीं हो सकता ।

सर्वज्ञता से मोक्षमार्ग में एकरूपता -

सर्वज्ञेन यतो दृष्टो मार्गो मुक्तिप्रवेशकः ।
प्राञ्जलोऽयं ततो भेदः कदाचिन्नात्र विद्यते ॥449॥
अन्वयार्थ : यत: सर्वज्ञेन दृष्ट: अयं मुक्तिप्रवेशक: मार्ग: प्राञ्जल: (अस्ति) । तत: अत्र (मोक्षमार्गे) कदाचित् भेद: न विद्यते ।
क्योंकि केवलज्ञान से देखा **अर्थ**ात् जाना गया मुक्तिप्रवेशमार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग प्रांजल अर्थात् स्पष्ट एवं निर्दोष है; इसलिए मोक्षमार्ग के स्वरूप में तथा कथन में कभी कोई मतभेद नहीं होता; इसका अर्थ मोक्षमार्ग में नियम से एकरूपता रहती है ।

देशना के विभिन्नता का कारण -

विचित्रा देशनास्तत्र भव्यचित्तानुरोधतः ।
कुर्वन्ति सूरयो वैद्या यथाव्याध्यनुरोधतः ॥450॥
अन्वयार्थ : यथा व्याधि-अनुरोधत: वैद्या: विचित्रा: देशना: कुर्वन्ति (तथैव) सूरय: भव्यचित्तानुरोधत: तत्र (मोक्षमार्गे) सूरय: विचित्रा: देशना: (कुर्वन्ति) ।
जिस समय जिस रोगी की जिसप्रकार की व्याधि/बीमारी होती है; उस समय चतुर वैद्य उस व्याधि तथा रोगी की प्रकृति आदि के अनुरूप योग्य भिन्न-भिन्न औषधि की योजना करते हैं; उसीप्रकार मुक्तिमार्ग के संबंध में भी आचार्य महोदय भव्य जीवों के चित्तानुरोध से नाना प्रकार की देशनाएँ देते हैं ।

मुक्ति का कारण -

कारणं निर्वृतेरेतच्चारित्रं व्यवहारतः ।
विविक्तचेतनध्यानं जायते परमार्थतः ॥451॥
अन्वयार्थ : एतत् (पूर्वोक्तं) चारित्रं व्यवहारत: निर्वृते: कारणं (अस्ति) । परमार्थत: (तु) विविक्त-चेतन-ध्यानं (निर्वृते: कारणं) जायते ।
इस चारित्र अधिकार में २८ मूलगुणों की मुख्यता से कहा हुआ चारित्र व्यवहारनय से निर्वाण / मुक्ति का कारण है । निश्चयनय से कर्मरूपी कलंक से रहित निज शुद्धात्मा का ध्यान ही निर्वाण का कारण है ।

व्यावहारिक चारित्र के दो भेद -

यो व्यावहारिकः पन्थाः सभेद-द्वय-संगतः ।
अनुकूलो भवेदेको निर्वृतेः संसृतेः परः ॥452॥
अन्वयार्थ : य: व्यावहारिक: पन्था: (अस्ति; स:) सभेद-द्वय-संगत: (भवति) । एक: निर्वृते: अनुकूल: भवेत् पर: संसृते: (अनुकूल: भवेत्) ।
व्यावहारिकचारित्ररूप जो मार्ग **अर्थ**ात् उपाय है, उसके दो भेद हैं - एक निर्वाण / मुक्ति के लिये अनुकूल है और दूसरा संसार के लिए अनुकूल है ।

मोक्ष एवं संसार के लिये अनुकूल चारित्र -

निर्वृतेरनुकूलोऽध्वा चारित्रं जिन-भाषितम् ।
संसृतेरनुकूलोऽध्वा चारित्रं पर-भाषितम् ॥453॥
अन्वयार्थ : जिन-भाषितं चारित्रं निर्वृते: अनुकूल: अध्वा (वर्तते) । (च) पर-भाषितं चारित्रं संसृते: अनुकूल: अध्वा (वर्तते) ।
वीतराग-सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहा गया २८ मूलगुणरूप चारित्र, वह मोक्ष के लिये अनुकूल मार्ग (उपाय) है और वीतराग तथा सर्वज्ञता से रहित किसी अन्य वक्ता द्वारा कहा गया चारित्र, वह संसार के लिये अनुकूल मार्ग है ।

जिनेंद्र-कथित व्यवहार चारित्र मोक्ष के लिये अनुकूल होने का कारण -

चारित्रं चरतः साधोः कषायेन्द्रिय-निर्जयः ।

स्वाध्यायोऽतस्ततो ध्यानं ततो निर्वाणसंगमः ॥454॥

अन्वयार्थ : (जिन-भाषितं) चारित्रं चरत: साधो: कषायेन्द्रिय-निर्जय: (भवति) । अत: स्वाध्याय: (भवति) । तत: (स्वाध्यायत:) ध्यानं (जायते) तत: (ध्यानात्) निर्वाणसंगम: (जायते) ।

जिनेंद्र-कथित २८ मूलगुणरूप व्यवहार चारित्र का यथार्थ आचरण करने से क्रोधादि कषायों का एवं स्पर्शनेंद्रियादि इंद्रियों का जीतना होता है । इनको जीतने से शास्त्र का स्वाध्याय/निजात्मा का ज्ञान तथा अनुभव होता है । इस कारण आत्मध्यान होता है । आत्म-ध्यान से मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

व्यवहार चारित्र शुद्धात्मा के ध्यान में कारण -

इदं चरित्रं विधिना विधीयते ।

ततः शुभध्यान-विरोधि-रोधकम् । ।

विविक्त-मात्मान-मनन्त-मीशते ।

न साधवो ध्यातुमृतेऽमुना यतः॥455॥

अन्वयार्थ : यत: साधव: अमुना (व्यवहारचारित्रेण) ऋते विविक्तं अनन्तं आत्मानं ध्यातुं न ईशते तत: इदं शुभध्यान-विरोधि-रोधकं चरित्रं विधिना विधीयते ।

चूँकि साधक व्यवहारचारित्र के बिना शुद्ध-अनन्त आत्मा का ध्यान करने में समर्थ नहीं होते हैं, अत: वे अशुभ-ध्यान को रोकने में समर्थ ऐसे इस व्यवहारचारित्र का विधिपूर्वक आचरण करते हैं ।

सर्वोत्तम चारित्र के धारक योगीश्वर का स्वरूप -

राग-द्वेष-प्रपञ्च-भ्रम-मद-मदन-क्रोध-लोभ-व्यपेतो ।

यश्चारित्रं पवित्रं चरति चतुरधीर्लोकयात्रानपेक्षः । ।

स ध्यात्वात्म-स्वभावं विगलितकलिलं नित्यमध्यात्मगम्यं ।

त्यक्त्वा कर्मारि-चक्रं परम-सुख-मयं सिद्धिसद् प्रयाति ॥456॥

अन्वयार्थ : य: चतुरधी: (योगी) राग-द्वेष-प्रपञ्च-भ्रम-मद-मदन-क्रोध-लोभ-व्यपेत: लोकयात्रानपेक्ष: पवित्रं चारित्रं चरति स: अध्यात्मगम्यं विगलितकलिलं आत्मस्वभावं नित्यं ध्यात्वा कर्मारिचक्रं त्यक्त्वा परमसुखमयं सिद्धिसद्म प्रयाति ।

जो चतुरबुद्धि योगीश्वर राग-द्वेषरूप प्रपंच/छलादि परिणाम, भ्रम, मद, मान, कामभाव, क्रोध और लोभ से रहित होकर लोकयात्रा **अर्थ**ात् संसार के व्यवहार की अपेक्षा न रखता हुआ उपर्युक्त चारित्ररूप प्रवृत्त होता है; वह सर्वथा पाप रहित शुद्धात्मस्वभाव का सदा ध्यान करते हुए कर्मरूपी शत्रुओं के समूह को भेदकर/नष्ट कर परमसुखमय सिद्धिसदन अर्थात् मुक्ति-महल को प्राप्त होता है ।

मुक्तजीव सदा आनन्दित रहते हैं -

दृष्टिज्ञानस्वभावस्तु सदानन्दोऽस्ति निर्वृतः ।

न चैतन्य-स्वभावस्य नाशो नाश-प्रसंगत: ॥457॥

अन्वयार्थ : निर्वृत: (जीव:) तु दृष्टिज्ञानस्वभाव: सदानन्द: अस्ति । (तस्य) चैतन्य स्वभावस्य (कदापि) नाश: न (जायते; जीवद्रव्यस्य) नाश-प्रसंगत: ।

निर्वृति **अर्थ**ात् मुक्तअवस्था को प्राप्त हुआ जीव दर्शन-ज्ञान स्वभाव को धारण किये हुए सदा / अनंतकालपर्यंत अनंत-अव्याबाध सुखरूप रहता है । जीव के दर्शन-ज्ञानरूप चैतन्य स्वभाव का कभी नाश नहीं होता; क्योंकि स्वभाव का नाश मानने से जीव द्रव्य के ही नाश का प्रसंग उपस्थित होता है, जो अशक्य है ।

मुक्तात्मा का चैतन्य निरर्थक नहीं -

सर्वथा ज्ञायते तस्य न चैतन्यं निरर्थकम् ।

स्वभावत्वेऽस्वभावत्वे विचारानुपपत्तितः ॥458॥

अन्वयार्थ : तस्य (निर्वृतस्य) चैतन्यं सर्वथा निरर्थकं न ज्ञायते (यतो हि निरर्थकस्य) स्वभावत्वे अस्वभावत्वे विचार-अनुपपत्तित: ।
मुक्तात्मा का चैतन्य सर्वथा निरर्थक भी ज्ञात नहीं होता; **अर्थ**ात् सार्थक ज्ञात होता है; क्योंकि निरर्थक को स्वभाव या अस्वभाव मानने पर चैतन्य की निरर्थकता का विचार नहीं बनता ।

चैतन्य को आत्मा का निरर्थक स्वभाव मानने पर दोषापत्ति -

निरर्थक-स्वभावत्वे ज्ञानभावानुषंगतः ।
न ज्ञानं प्रकृतेर्धर्श्चेतनत्वानुषंगतः ॥459॥
प्रकृतेश्चेतनत्वे स्यादात्मत्वं दुर्निवारणम् ।
ज्ञानात्मकत्वे चैतन्ये नैरर्थक्यं न युज्यते ॥460॥

अन्वयार्थ : (आत्मन: चैतन्ये) निरर्थक-स्वभावत्वे प्रकृते: ज्ञानभाव-अनुषंगतः, ज्ञानं (च प्रकृते:) धर्म: न, चेतनत्वानुषंगतः ।
प्रकृते: चेतनत्वे आत्मत्वं दुर्निवारणं स्यात् (अत:) चैतन्ये ज्ञानात्मकत्वे (सति तस्य चैतन्यस्य) नैरर्थक्यं न युज्यते ।
यदि चैतन्य को आत्मा का निरर्थक स्वभाव माना जाय - सार्थक स्वभाव न मानकर प्रकृतिजनित विभाव स्वीकार किया जाय - तो प्रकृति के ज्ञानत्व का प्रसंग उपस्थित होता है और ज्ञान प्रकृति का धर्म है नहीं; क्योंकि ज्ञान को प्रकृति का धर्म मानने पर प्रकृति के चेतनत्व का प्रसंग उपस्थित होता है । यदि प्रकृति के चेतनत्व माना जाये तो आत्मत्व मानना भी अवश्यंभावी होगा । अतः चैतन्य के ज्ञानात्मक होने पर उसके निरर्थकपना नहीं बनता ।

मुक्ति में भी आत्मा का अभाव नहीं -

नाभावो मुक्त्यवस्थायामात्मनो घटते ततः ।
विद्यमानस्य भावस्य नाभावो युज्यते यतः ॥461॥

अन्वयार्थ : यत: विद्यमानस्य भावस्य अभाव: न युज्यते तत: मुक्त्यवस्थायां आत्मन: अभाव: (अपि) न घटते ।
क्योंकि विद्यमान/सत्स्वरूप वस्तु का कभी अभाव नहीं होता, यह त्रैकालिक सत्य है; इसलिए मुक्त अवस्था में भी आत्मा का अभाव कभी घटित नहीं होता ।

जीव के स्वभाव-विभाव का दृष्टान्त सहित निरूपण -

यथा चन्द्रे स्थिता कान्तिर्निर्ले निर्मला सदा ।
प्रकृतिर्विकृतिस्तस्य मेघादिजनितावृतिः ॥462॥
तथात्मनि स्थिता ज्ञप्तिर्विशदे विशदा सदा ।
प्रकृतिर्विकृतिस्तस्य कर्माष्टककृतावृतिः ॥463॥

अन्वयार्थ : यथा निर्मले चन्द्रे सदा स्थिता निर्मला कान्ति: तस्य प्रकृति:, मेघादिजनितावृति: (तस्य) विकृति: । तथा विशदे आत्मनि सदा स्थिता विशदा ज्ञप्ति: तस्य प्रकृति:, कर्माष्टककृतावृति: (तस्य) विकृति: ।
जिसप्रकार निर्मल चन्द्रमा में सदा विद्यमान निर्मल कान्ति उसकी प्रकृति / स्वभाव है और मेघादिजनित आवृति/आवरण उसकी विकृति/विभाव है । उसीप्रकार निर्मल आत्मा में सदा विद्यमान निर्मल ज्ञप्ति / जाननरूप कार्य उसकी प्रकृति / स्वभाव है और आठ कर्मों की आवृति / आवरण उसकी विकृति / विभाव है ।

निमित्त के अभाव से नैमित्तिकभाव का अभाव -

जीमूतापगमे चन्द्रे यथा स्फुटति चन्द्रिका ।
दुरितापगमे शुद्धा तथैव ज्ञप्तिरात्मनि ॥464॥

अन्वयार्थ : यथा जीमूतापगमे चन्द्रे चन्द्रिका स्फुटति तथा एव दुरितापगमे आत्मनि शुद्धा ज्ञप्ति: (स्फुटति)।

जिसप्रकार मेघों का आवरण निकल जाने पर निर्मल चंद्रमा में निर्मल चाँदनी स्फुटित / व्यक्त हो जाती है; उसीप्रकार ज्ञानावरणादि आवरण कर्म निकल जाने पर निर्मल आत्मा में मात्र जाननरूप ज्ञप्ति / केवलज्ञानरूप ज्योति स्फुटित / व्यक्त हो जाती है ।

कर्मरूप आवरण का नाश क्षणभर में -

धुनाति क्षणतो योगी कर्मावरणमात्मनि ।

मेघस्तोमिवादित्ये पवमानो महाबलः ॥465॥

अन्वयार्थ : महाबल: पवमान: आदित्ये मेघस्तों क्षणत: धुनाति इव योगी आत्मनि कर्मावरणं (क्षणत: धुनाति) ।

जिसप्रकार सूर्य पर आये हुए मेघ समूह को तीव्र वेग/गति से चलनेवाला महाबलवान पवन क्षणभर में भगा देता है; उसीप्रकार आत्मा के ऊपर आये हुए कर्मों के आवरण को योगी क्षणभर में नष्ट कर देता है ।

योग का लक्षण -

विविक्तात्म-परिज्ञानं योगात्संजायते यतः ।

स योगो योगिभिर्गीतो योगनिर्धूत-पातकैः ॥466॥

अन्वयार्थ : यत: योगात् विविक्तात्म-परिज्ञानं संजायते (तत:) योगनिर्धूत-पातकै: योगिभि: स: योग: गीत: ।

जिस योग से **अर्थ**ात् ध्यान से शुद्ध आत्मा का अत्यंत स्पष्ट ज्ञान होता है, उसे जिन्होंने योग के द्वारा पातक अर्थात् घातिकर्मों का नाश किया है - ऐसे योगियों ने योग कहा है ।

ध्यान से उत्पन्न सुख की विशेषता -

निरस्त-मन्मथातंकं योगजं सुखमुत्तमम् ।

शमात्मकं स्थिरं स्वस्थं जन्ममृत्युजरापहम् ॥467॥

अन्वयार्थ : योगजं सुखं उत्तमं निरस्त-मन्मथ-आतंकं शमात्मकं स्वस्थं स्थिरं (तथा) जन्ममृत्युजरापहम् (अस्ति) ।

योग से **अर्थ**ात् ध्यानजन्य-विविक्तात्म परिज्ञान से उत्पन्न हुआ जो सुख है वह उत्तम, कामदेव के आतंक से/विषय वासना की पीड़ा से रहित, शान्तिस्वरूप, निराकुलतामय, स्थिर, स्वात्मस्थित और जन्म-जरा तथा मृत्यु का विनाशक है ।

सुख एवं दुःख का संक्षिप्त लक्षण -

सर्वं परवशं दुःखं सर्वात्मवशं सुखम् ।

वदन्तीति समासेन लक्षणं सुख-दुःखयोः ॥468॥

अन्वयार्थ : परवशं सर्वं दु:खं (अस्ति),आत्मवशं सर्वं सुखं (अस्ति); इति (सर्वज्ञा:) सुख-दु:खयो: लक्षणं समासेन वदन्ति ।

'जो-जो पराधीन है वह सब दुःख है और जो-जो स्वाधीन है वह सब सुख है' इसप्रकार (सर्वज्ञ भगवान) संक्षेप से सुख-दुःख का लक्षण कहते हैं ।

भोग एवं आत्मज्ञान का स्वरूप -

ततः पुण्यभवा भोगा दुःखं परवशत्वतः ।

सुखं योगभवं ज्ञानं स्वरूपं स्ववशत्वतः ॥469॥

अन्वयार्थ : तत: पुण्यभवा: भोगा: परवशत्वत: दु:खं (भवति) । योगभवं ज्ञानं स्ववशत्वत: सुखं स्वरूपं (भवति) ।

जो जो पराधीन है वह सब दुःख है । इसलिए पुण्य से उत्पन्न हुए जो जो भोग हैं, वे सब परवश / पराधीन होने से दुःखरूप हैं । योग **अर्थ**ात् ध्यान से उत्पन्न हुआ जो निज शुद्ध आत्मा का ज्ञान है, वह स्वाधीन होने से सुखरूप एवं अपने आत्मा का स्वरूप है ।

ध्यान का लक्षण -

ध्यानं विनिर्मलज्ञानं पुंसां संपद्यते स्थिरम् ।
हें क्षीणमलं किं न कल्याणत्वं प्रपद्यते ॥470॥

अन्वयार्थ : पुंसां विनिर्मलज्ञानं (यदा) स्थिरं (भवति; तदा) ध्यानं संपद्यते । (यत:) क्षीणमलं हें किं कल्याणत्वं न प्रपद्यते ? (प्रपद्यते एव ।) ।

पुरुषों का **अर्थ**ात् जीवों का निर्मल/सम्यग्ज्ञान जब स्थिर होता है, तब उस ज्ञान को ही ध्यान कहते हैं । यह ठीक ही है, क्योंकि किट्ट-कालिमादिरूप मल से रहित हुआ सुवर्ण क्या कल्याणपने को प्राप्त नहीं होता?
(इस संसार में निर्मल सुवर्ण को कल्याण नाम से भी जाना जाता है ।)

मूढ़ जीवों की मान्यता -

गन्धर्वनगराकारं विनश्वरमवास्तवम् ।
स्थावरं वास्तवं भोगं बुध्यन्ते मुग्धबुद्धयः ॥471॥

अन्वयार्थ : मुग्धबुद्धय: गन्धर्वनगराकारं (इव) विनश्वरं (च) अवास्तवं भोगं स्थावरं वास्तवं (च) बुध्यन्ते ।

मूढ़बुद्धि मनुष्य **अर्थ**ात् जिन्हें वस्तुस्वरूप का ठीक परिज्ञान नहीं है, वे गन्धर्वनगर के आकार के समान विनाशीक और अवास्तविक भोग समूह को स्थिर और वास्तविक समझते हैं ।

आत्मा का महान रोग -

चित्त-भ्रमकरस्तीव्रराग-द्वेषादि-वेदनः ।
संसारोऽयं महाव्याधिर्नानाजन्मादिविक्रियः ॥472॥
अनादिरात्मनोऽमुख्यो भूरिकर्मनिदानकः ।
यथानुभवसिद्धात्मा सर्वप्राणभृतामयम् ॥473॥

अन्वयार्थ : चित्तभ्रमकर:, तीव्रराग-द्वेषादि वेदन:, नाना-जन्मादि विक्रिय:अयं संसार: (आत्मन:) महाव्याधि: (अस्ति) ।
अयं (महाव्याधि:) आत्मन: अनादि: अमुख्य:, भूरिकर्मनिदानक:, सर्वप्राणभृतां (च) यथा-अनुभवसिद्धात्मा (अस्ति)।

यह संसार जो चित्त में भ्रम उत्पन्न करनेवाला, राग-द्वेषादि की वेदना को लिये हुए तथा जन्म-मरणादिकी विक्रिया से युक्त है, वह आत्मा का महान रोग है । यह महान रोग आत्मा के साथ अनादि-सम्बन्ध को प्राप्त है, अप्रधान है, बहुत कर्मों के बन्ध का कर्ता है और सर्व प्राणियों को ऐसा ही आत्मा अनुभव में आता रहता है, अत: यथा-अनुभवसिद्ध है ।

सिद्ध जीव पुनः संसारी नहीं हो सकता -

सर्वजन्मविकाराणामभावे तस्य तत्त्वतः ।
न मुक्तो जायतेऽमुक्तोऽमुख्योऽज्ञानमयस्तथा ॥474॥

अन्वयार्थ : तस्य (आत्मन:) तत्त्वत: सर्वजन्मविकाराणां अभावे (सति; य: जीव:) मुक्त: (भवति; स:) अमुक्त: अमुख्य: तथा अज्ञानमय: न जायते ।

आत्मा के सर्व संसार-विकारों का वस्तुतः अभाव हो जाने पर जो जीव मुक्त **अर्थ**ात् सिद्ध आत्मा हो जाता है, वह परमात्मा फिर कभी अमुक्त अर्थात् संसार पर्याय का धारक संसारीजीव नहीं होता, न साधारण प्राणी बनता है और न अज्ञानरूप ही परिणत होता है ।

सिद्ध संसारी नहीं होते, इसका सोदाहरण समर्थन -

यथेहामयमुक्तस्य नामयः स्वस्थता परम् ।
तथा पातकमुक्तस्य न भवः स्वस्थता परम् ॥475॥

अन्वयार्थ : यथा इह आमयमुक्तस्य आमय: न (वर्तते) परं स्वस्थता (जायते) । तथा पातकमुक्तस्य भव: (संसार:) न (अवतिष्ठते) परं स्वस्थता (जायते) ।

जिसप्रकार इस लोक/संसार में जो मनुष्य रोग से रहित हो गया है, उसके रोग नहीं रहता; वह परम स्वस्थता को ही प्राप्त हो जाता है । उसीप्रकार जो पातक **अर्थ**ात् ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हो गया है, उसके भव अर्थात् संसार नहीं रहता; वह परम स्वस्थता को प्राप्त हो जाता है अर्थात् मुक्तावस्था में ही अनंत काल तक विद्यमान रहता है ।

ज्ञानी के भोग संसार के कारण नहीं -

शुद्धज्ञाने मनो नित्यं कार्येऽन्यत्र विचेष्टते ।
यस्य तस्याग्रहाभावान् न भोगा भवहेतवः ॥476॥

अन्वयार्थ : यस्य मन: नित्यं शुद्ध ज्ञाने वर्तते, अन्यत्र कार्ये विचेष्टते तस्य भोगा: आग्रह-अभावात् न भवहेतव: ।

जिसका मन **अर्थ**ात् व्यक्त/प्रगट ज्ञान सदा शुद्ध ज्ञान में अर्थात् त्रिकाली निज शुद्ध आत्मा में रमा/संलग्न रहता है; अन्य किसी कार्य में जिसकी उपादेय बुद्धि से कोई प्रवृत्ति नहीं होती उसके पंचेंद्रियों के भोग आसक्ति के अभाव में संसार के कारण नहीं होते ।

ज्ञानी भोगों में अनासक्त और अनासक्ति से मोक्ष -

मायाम्भो मन्यतेऽसत्यं तत्त्वतो यो महामनाः ।
अनुद्विग्नो निराशंकस्तन्मध्ये स न गच्छति ॥477॥
मायातोयोपमा भोगा दृश्यन्ते येन वस्तुतः ।
स भुञ्जानोऽपि निःसंग: प्रयाति परमं पदम् ॥478॥

अन्वयार्थ : य: महामना: मायाम्भ: तत्त्वत: असत्यं मन्यते स: (तत्प्रति) अनुद्विग्न: निराशंक:
(अत एव) तन्मध्ये न गच्छति । येन भोगा: मायातोयोपमा दृश्यन्ते स: वस्तुत: (भोगान्) भुञ्जान: अपि नि:संग: (वर्तयन्) परमं पदं प्रयाति ।

जिसप्रकार महामना / सम्यग्दृष्टि / ज्ञानी / मोक्षमार्गी जीव मायाजल **अर्थ**ात् मृगमरीचिका को वास्तविक रीति से असत्य जानते हैं; अत: वे उससे न उद्विग्न होते हैं, न आकुलित होते हैं और न उसमें रमते हैं । उसीप्रकार जिन्हें पंचेन्द्रियों के भोग वास्तव में माया के समान असत्य / आभासमात्र दिखाई देते हैं, वे महामना/महात्मा जीव भोगों को भोगते हुए भी आसक्ति के अभाव से निःसंग वर्तते हुए परमपद/ मोक्ष को पाते हैं ।

तत्त्वदृष्टिवंत जीव का स्वरूप -

भोगांस्तत्त्वधिया पश्यन् नाभ्येति भवसागरम् ।
मायाम्भो जानतासत्यं गम्यते तेन नाध्वना ॥479॥

अन्वयार्थ : (यथा) मायाम्भ: असत्यं जानता तेनअध्वना न गम्यते (तथा) भोगान् तत्त्वधिया (असत्यं) पश्यन् भवसागरं न अभ्येति ।

जैसे मृगमरीचिका को असत्य जल के रूप में देखते-जानते हुए ज्ञानी जीव पानी प्राप्त करने की इच्छा से उस मृगमरीचिका के रास्ते से नहीं जाते, मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं । वैसे पंचेंद्रियों के भोगों को तत्त्वदृष्टि से असत्य देखते-जानते हुए ज्ञानी जीव भवसागर को प्राप्त नहीं होते **अर्थ**ात् मोक्षमार्गी ही बने रहते हैं ।

तत्त्वदृष्टिहीन जीव का स्वरूप -

स तिष्ठति भयोद्विग्नो यथा तत्रैव शंकित: ।
तथा निर्वृतिमार्गेऽपि भोगमायाविमोहितः ॥480॥

अन्वयार्थ : यथा (मायाजले) शंकित: भय-उद्विग्न: स: (जीव:) तत्र (मायाजले) एव तिष्ठति; तथा भोगमायाविमोहित: (जीव:) अपि निर्वृतिमार्गे (शंकित: प्रवर्तति) ।

जिसप्रकार मृगमरीचिका **अर्थ**ात् मायाजल में जिसे असत्यपने का निर्णय नहीं है; ऐसा मनुष्य भय से सदा दुःखी रहता है; उसीप्रकार पंचेंद्रियों के भोगों में दुःख ही है, ऐसा निर्णय मोह से जिसे नहीं है, वह जीव मोक्षमार्ग में शंकित हुआ वर्तता है ।

भोग का फल -

धर्मतोऽपि भवो भोगो दत्ते दुःख-परंपराम् ।
चन्दनादपि संपन्नः पावकः प्लोषते न किम् ॥481॥

अन्वयार्थ : (यथा) चन्दनात् अपि सम्पन्न: पावक: किं न प्लोषते ? (प्लोषते एव; तथा) धर्मत: अपि (सम्पन्न:) भव: भोग: दु:ख-परंपरां दत्ते ।

जिसप्रकार शीतलस्वभावी चंदन से भी उत्पन्न हुई अग्नि जलाने का ही काम करती है; उसीप्रकार पुण्यरूप व्यवहार धर्म से प्राप्त हुआ सहज भोग भी जीव को दुःख की परम्परा को ही देता है ।

विद्वानों की दृष्टि में लक्ष्मी और भोग -

विपत्सखी यथा लक्ष्मीर्नानन्दाय विपश्चिताम् ।
न कल्मषसखो भोगस्तथा भवति शर्मणे ॥482॥

अन्वयार्थ : यथा विपत्सखी लक्ष्मी: विपश्चितां आनन्दाय न (भवति); तथा कल्मषसख: भोग: शर्मणे न भवति ।

जिसप्रकार विपत्ति/आपत्ति जिसकी सखी **अर्थ**ात् सहेली है, वह लक्ष्मी अर्थात् धन-संपत्ति विद्वानों के लिये आनंददायक नहीं होती; उसीप्रकार कल्मष अर्थात् पाप ही जिसका साथी है वह भोग विद्वानों के लिये सुखकारी नहीं होता ।

सच्चा वैराग्य का स्वरूप -

भोग-संसार-निर्वेदो जायते पारमार्थिकः ।
सम्यग्ज्ञान-प्रदीपेन तन्नैर्गुण्यावलोकने ॥483॥

अन्वयार्थ : सम्यग्ज्ञान-प्रदीपेन तत्-नैर्गुण्यावलोकने (कृते) भोग-संसार-निर्वेद: पारमार्थिक: जायते ।

जब सम्यग्ज्ञानरूप दीपक से पंचेंद्रियों के रम्य भोग और आकर्षक लगनेवाले राग-द्वेषरूप संसारवर्धक परिणामों में निर्गुणता **अर्थ**ात् निरर्थकता/व्यर्थता भलीभाँति समझ में आती है, तब भोग और संसार से वास्तविक/सच्चा वैराग्य होता है ।

परम भक्ति का स्वरूप -

निर्वाणे परमा भक्तिः पश्यतस्तद्गुणं परम् ।
चित्र-दुःखमहाबीजे नष्टे सति विपर्यये ॥484॥

अन्वयार्थ : चित्र-दु:खमहाबीजे विपर्यये नष्टे सति निर्वाणे परं तद्गुणं पश्यत: परमा भक्ति: (भवति) ।

अनेक प्रकार के दुःखों के बीजस्वरूप मिथ्यात्व के नष्ट होने पर निर्वाण **अर्थ**ात् मुक्त-अवस्था में प्राप्त होनेवाले सर्वोत्तम गुणसमूहों को देखने-जाननेवाले साधक को परमभक्ति व्यक्त होती है ।

सच्चे त्याग का स्वरूप -

ज्ञानवन्तः सदा बाह्यप्रत्याख्यान-विशारदाः ।
ततस्तस्य परित्यागं कुर्वते परमार्थतः ॥485॥

अन्वयार्थ : तत: बाह्यप्रत्याख्यान-विशारदा: ज्ञानवन्त: परमार्थत: तस्य (विपर्यय-ज्ञानस्य) सदा परित्यागं कुर्वते ।

इसकारण बाह्य पदार्थों के त्याग में प्रवीण **अर्थ**ात् सम्यग्ज्ञान के धारक साधक मिथ्यात्व का वास्तविकरूप से त्याग करते हैं ।

ज्ञानी पापों से निर्लिप्त -

न ज्ञानी लिप्यते पापैर्भानुमानिव तामसैः ।
विषयैर्विध्यते ज्ञानी न संनद्धः शरैरिव ॥486॥

अन्वयार्थ : तामसै: भानुान् इव ज्ञानी पापै: न लिप्यते । संनद्धः शरै: इव ज्ञानी विषयै: न विध्यते ।

जिसप्रकार सूर्य अंधकारों से व्याप्त **अर्थ**ात् आच्छादित नहीं होता अर्थात् अँधकार सूर्य के प्रकाश को ढक नहीं सकता - प्रकाश को नष्ट नहीं कर सकता, उसीप्रकार ज्ञानी की भूमिका में होनेवाले योग्य पापों से उसका व्यक्त धर्म व्याप्त/आच्छादित नहीं होता अर्थात् ज्ञानी के योग्य पाप उसके व्यक्त धर्म को ढँक नहीं सकते - धर्म को नष्ट नहीं कर सकते । जिसप्रकार युद्ध में कवच (बख्तर) पहना हुआ योद्धा बाणों से नहीं बिंधता, उसीप्रकार ज्ञानी पंचेंद्रिय के विषयों को भोगने के कारण कर्मों से नहीं बंधता ।

ज्ञान की महिमा -

अनुष्ठानास्पदं ज्ञानं ज्ञानं मोहतमोऽपहम् ।
पुरुषार्थकरं ज्ञानं ज्ञानं निर्वृति-साधनम् ॥487॥
अन्वयार्थ : ज्ञानं अनुष्ठानास्पदं , ज्ञानं मोहतमोऽपहं, ज्ञानं पुरुषार्थकरं, (च) ज्ञानं निर्वृतिसाधनम् (अस्ति) ।
सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र का आधार है, मोहरूपी महा अंधकार को नाश करनेवाला एक मात्र सम्यग्ज्ञान है, पुरुष **अर्थ**ात् आत्मा के प्रयोजन को पूरा करनेवाला मोक्ष का साक्षात् साधन सम्यग्ज्ञान है ।

तत्त्वचिंतकों का अलौकिक ध्येय तत्त्व -

विकारा निर्विकारत्वं यत्र गच्छन्ति चिन्तिते ।
तत् तत्त्वं तत्त्वतश्चिन्त्यं चिन्तान्तर-निराशिभिः ॥488॥
अन्वयार्थ : यत्र चिन्तिते विकारा: निर्विकारत्वं गच्छन्ति तत् तत्त्वं तत्त्वत: चिन्तान्तर-निराशिभि: चिन्त्यं (भवति) ।
जिस (निज भगवान आत्मा) का चिन्तन/ध्यान करने पर विकार निर्विकारता को प्राप्त हो जाते हैं (वीतरागमय धर्म प्रगट हो जाता है), उस (चिन्तनयोग्य ध्येय) तत्त्व का अन्य चिन्ताओं से निरिच्छ पुरुषों को वास्तविक चिन्तन करना चाहिए ।

निज परम तत्त्व एक ही उपादेय -

विविक्तमान्तरं ज्योतिर्निराबाधमनामयम् ।
यदेतत् तत्परं तत्त्वं तस्यापरमुपद्रवः ॥489॥
अन्वयार्थ : यत् एतत् विविक्तं निराबाधं (च) अनामयं आन्तरं ज्योति: (अस्ति), तत् परं तत्त्वं (अस्ति) । तस्य अपरं (सर्वं) उपद्रव: ।
यह जो विविक्त **अर्थ**ात् कर्मरूपी कलंक से रहित-अनादि अनंत, स्वभाव से सर्वथा शुद्ध, निर्भय, निरामय/निर्विकार अंतरंग ज्योति अर्थात् ज्ञानमय आत्मतत्त्व है, वही परम तत्त्व है, उससे भिन्न अन्य सब उपद्रव है ।

मुमुक्षुओं का स्वरूप -

न कुत्राप्याग्रहस्तत्त्वे विधातव्यो मुमुक्षुभिः ।
निर्वाणं साध्यते यस्मात् समस्ताग्रहवर्जितैः ॥490॥
अन्वयार्थ : मुमुक्षुभि: कुत्र अपि तत्त्वे आग्रह: न विधातव्य:; यस्मात् समस्त-आग्रहवि र्जतै: निर्वाणं साध्यते ।
जो मोक्ष के अभिलाषी / इच्छुक जीव हैं, उन्हें अन्य किसी भी तत्त्व का **अर्थ**ात् व्यवहार धर्म के साधन / निमित्तरूप पुण्यपरिणामों का अथवा शुभ क्रियाओं का आग्रह / हठ नहीं रखना चाहिए; क्योंकि जो समस्त प्रकार के आग्रहों से / एकांत अभिनिवेशों से रहित हो जाते हैं अर्थात् मध्यस्थ / सहज रहते हैं वे ही सिद्धपद को प्राप्त करते हैं ।

मुमुक्षु की निर्विकल्पता -

कर्ताहं निर्वृतिः कृत्यं ज्ञानं हेतुः सुखं फलम् ।
नैकोऽपि विद्यते तत्र विकल्पः कल्पनातिगे ॥491॥
अन्वयार्थ : अहं कर्ता, निर्वृति: कृत्यं, ज्ञानं हेतु: सुखं (च) फलम् (अस्ति एतेषु सर्वेषु) एक: अपि विकल्प: तत्र कल्पनातिगे (ध्येयस्वरूप आत्मनि) न विद्यते ।

मैं कर्ता हूँ, मुक्ति प्राप्त करना मेरा कर्त्तव्य है, निर्वाणरूप कार्य के लिये ज्ञान कारण है और ज्ञान का फल सुख है - इत्यादि में से एक भी विकल्प उस कल्पनातीत/अलौकिक मुमुक्षु में नहीं होता है ।

आत्मा जड़ कर्मों से सदा भिन्न -

आत्म-व्यवस्थिता यान्ति नात्मत्वं कर्मवर्गणाः ।
व्योरूपत्वमायान्ति व्योस्थाः किमु पुद्गलाः ॥492॥

अन्वयार्थ : व्योस्था: पुद्गला: किमु व्योरूपत्वं आयान्ति ? (अर्थात् न आयान्ति; तथा एव) आत्म-व्यवस्थिता: कर्मवर्गणा: आत्मत्वं न यान्ति ।

विशाल लोकाकाश में व्याप्त अनंतानंत स्थूल तथा सूक्ष्म पुद्गल क्या कभी आकाश-द्रव्यरूप परिणमित हो सकते हैं? नहीं, कदापि नहीं । आकाश, आकाशरूप रहता है और पुद्गल पुद्गलद्रव्यरूप ही रहते हैं । उसीप्रकार संसारी आत्मा के प्रदेशों में खचाखच / ठसाठस भरी हुई ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप परिणमित कार्माणवर्गणाएँ आत्मतत्त्व/चेतनपने को प्राप्त नहीं हो सकती, वे सब कार्माणवर्गणाएँ पुद्गलरूप ही रहती हैं और आत्मा भी आत्मद्रव्यरूप ही रहता है ।

नामकर्मजन्य अवस्थाओं से आत्मा सदा भिन्न -

स्थावराः कार्मणाः सन्ति विकारास्तेऽपि नात्मनः ।
शाश्वच्छुद्धस्वभावस्य सूर्यस्येव घनादिजाः ॥493॥

अन्वयार्थ : घनादिजा: (विकारा:) शाश्वत्-शुद्ध-स्वभावस्य सूर्यस्य इव कार्मणा: स्थावरा: विकारा: ते अपि आत्मन: न सन्ति ।

जिसप्रकार आकाश में मेघ आदि के निमित्त से सूर्य के प्रकाश में उत्पन्न होनेवाले भिन्न-भिन्न आकाररूप विकार, अनादि से शुद्ध स्वभावरूप सूर्य के नहीं हो सकते **अर्थ**ात् मेघजन्य विकार और सूर्य दोनों एक-दूसरे से भिन्न ही रहते हैं; उसीप्रकार नामकर्म के उदय के निमित्त से पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वनस्पतिरूप एकेंद्रिय जीवों का स्थावररूप आकार शुद्ध स्वभावरूप जीव नहीं हो सकते अर्थात् स्थावररूप आकार और शुद्ध जीव दोनों एक-दूसरे से भिन्न ही हैं ।

मोहकर्मजन्य रागादि भावों से आत्मा सदा भिन्न -

रागादयः परीणामाः कल्मषोपाधिसंभवाः ।
जीवस्य स्फटिकस्येव पुष्पोपाधिभवा मताः ॥494॥

अन्वयार्थ : पुष्पोपाधिभवा: स्फटिकस्य (परिणामा:) इव जीवस्य रागादय: परीणामा: कल्मषोपाधिसंभवा: मता: ।

जिसप्रकार पुष्पों की उपाधि/निमित्त से स्फटिक के अनेक प्रकार के रंगादिरूप परिणाम / अवस्थाएँ होती हैं; उसीप्रकार मोहनीयकर्म के निमित्त से जीव के क्रोध-मान-मायालोभादिरूप रागादि परिणाम होते हैं ।

कषाय परिणाम का कर्ता कर्म है -

परिणामाः कषायाद्या निमित्तीकृत्य चेतनाम् ।
मृत्पिण्डेनेव कुम्भाद्यो जन्यन्ते कर्मणाखिलाः ॥495॥

अन्वयार्थ : मृत्पिण्डेन कुम्भाद्या: इव चेतनां निमित्तकृत्य अखिला: कषायाद्या: परिणामा: कर्मणा जन्यन्ते ।

जिसप्रकार (कुंभकार का निमित्त पाकर) जड़ मिट्टी ही स्वयं घटादि को उत्पन्न करती है; **अर्थ**ात् घटादि की कर्त्ता मिट्टी है, कुंभकार नहीं । उसीप्रकार चेतना का निमित्त पाकर कर्म, क्रोध-मान-माया-लोभादिरूप समस्त कषाय परिणाम उत्पन्न करते हैं ।

कषाय परिणामों का स्वरूप -

आत्मनो ये परीणामाः मलतः सन्ति कश्मलाः ।
सलिलस्येव कल्लोलास्ते कषाया निवेदिताः ॥496॥

अन्वयार्थ : आत्मन: ये परीणामा: मलत: कश्मला: सन्ति ते (परीणामा:) सलिलस्य कल्लोला: इव कषाया: निवेदिता: ।
आत्मा के जो परिणाम कर्मरूपी मल के निमित्त से मलीन/विभावरूप हो जाते हैं, वे परिणाम जल की कल्लोलों की तरह कषाय कहे गये हैं ।

कालुष्य और कर्म में निमित्त-नैमित्तिक संबंध -

कालुष्याभावतोऽकर्म कालुष्यं कर्मतः पुनः ।
एकनाशे द्वयोर्नाशः स्याद् बीजांकुरयोरिव ॥497॥

अन्वयार्थ : कर्मत: कालुष्यं (उत्पद्यते), पुन: कालुष्य-अभावत: (च) अकर्म (भवति) । बीज-अंकुरयो: इव एकनाशे (सति) द्वयो: नाश: स्यात् ।

मोहनीय कर्म के उदय के निमित्त से जीव में क्रोधादिरूप कलुषता की उत्पत्ति होती है और क्रोधादिरूप कलुषता के अभाव से ज्ञानावरणादि कर्म का अभाव होता है । बीज और अंकुर की तरह दोनों में से किसी एक का नाश होने पर दोनों का एकसाथ नाश हो जाता है ।

कषाय के अभाव से शुद्धि / वीतरागता की वृद्धि -

यदास्ति कल्मषाभावो जीवस्य परिणामिनः ।
परिणामास्तदा शुद्धाः स्वर्णस्येवोत्तरोत्तराः ॥498॥

अन्वयार्थ : यदा परिणामिन: जीवस्य कल्मषाभाव: अस्ति, तदा (तस्य जीवस्य) परिणामा: सुवर्णस्य इव उत्तरोत्तरा: शुद्धा: (जायन्ते) ।

जिस समय परिणमनस्वभावी संसारी साधक जीव के मोह-राग-द्वेषरूप कलुषता का यथागुणस्थान अभाव हो जाता है, उस समय उस जीव के वीतरागरूप धर्मपरिणाम उत्तरोत्तर सुवर्ण के समान शुद्ध होते चले जाते हैं ।

कषाय के अभाव से सिद्धदशा की प्राप्ति -

कल्मषाभावतो जीवो निर्विकारो विनिश्चलः ।
निर्वात-निस्तरंगाब्धि-समानत्वं प्रपद्यते ॥499॥

अन्वयार्थ : कल्मषाभावतः जीवः निर्वात-निस्तरंगाब्धि-समानत्वं निर्विकारः विनिश्चलःप्रपद्यते ।

जिसप्रकार वायु तथा तरंग के अभाव से समुद्र-निर्विकार तथा निश्चल / स्थिर होता है; उसीप्रकार मिथ्यात्व एवं कषायरूप कल्मष के अभाव से मोक्षमार्गस्थ आत्मा निर्विकार एवं निश्चल होता है **अर्थ**ात् सिद्धपरमात्मा हो जाता है ।

आत्मा का यथार्थ स्वरूप -

अक्ष-ज्ञानार्थतो भिन्नं यदन्तरवभासते ।
तद्रूपमात्मनो ज्ञातृज्ञातव्यमविपर्ययम् ॥500॥

अन्वयार्थ : अक्ष-ज्ञानार्थत: भिन्नं यत् अन्त: अवभासते, तत् ज्ञातृज्ञातव्यं आत्मन: अविपर्ययं रूपं (अस्ति) ।

(स्पर्शेनेन्द्रिय आदि पाँच इंद्रियों से स्पर्श, रस, गंध, वर्ण एवं शब्दरूप पुद्गलमय / जड़ ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान होता है । इन स्पर्श-रस आदि) इंद्रियज्ञान के विषयों से भिन्न अंतरंग में ज्ञाता के द्वारा ज्ञातव्य **अर्थ**ात् अनुभव में आनेवाला जो पदार्थ है, वही आत्मा का विपरीतता से रहित यथार्थ स्वरूप है ।

व्यक्तरूप परमज्योति का स्वरूप -

यत्रासत्यखिलं ध्वान्तमुद्द्योतः सति चाखिलः ।
अस्त्यपि ध्वान्तमुद्द्योतस्तज्ज्योतिः परमात्मनः ॥501॥

अन्वयार्थ : यत्र (यस्य) असति अखिलं ध्वान्तं (भवति) च (यस्य) सति अखिल: उद्योत: (भवति)। ध्वान्तं अपि उद्योत: अस्ति, तत्

आत्मन: परं ज्योति: (अस्ति) ।

जिसके विद्यमान न होनेपर सब अंधकार है **अर्थ**ात् सब ज्ञेय ज्ञात नहीं होते और विद्यमान होनेपर सब उद्योतरूप है अर्थात् लोकालोक में व्याप्त अनंततानंत ज्ञेय युगपत / एकसाथ विशदरूप से ज्ञात होते हैं; इतना ही नहीं अंधकार भी उद्योतरूप से परिणत हो जाता है अर्थात् अंधकार भी अंधकाररूप से जानने में आता है, वह आत्मा की परमज्योति अर्थात् केवलज्ञान है ।

सब द्रव्य स्वस्वभाव में स्थित है -

सर्वे भावाःस्वभावेन स्वस्वभाव-व्यवस्थिताः ।

न शक्यन्तेऽन्यथा कर्तुं ते परेण कदाचन ॥502॥

अन्वयार्थ : सर्वे भावा: स्वभावेन स्वस्वभाव-व्यवस्थिता: (सन्ति), ते परेण कदाचन अन्यथा कर्तुं न शक्यन्ते ।

(जाति की अपेक्षा जीवादि छह द्रव्य और संख्या की अपेक्षा अनंतानंत) सब द्रव्य स्वभाव से अपने-अपने स्वभाव **अर्थ**ात् स्वरूप में सदा स्थित रहते हैं; वे सभी द्रव्य पर के द्वारा कभी अन्यथारूप नहीं किये जा सकते ।

आत्मा भी अपने स्वभाव में स्थित -

नान्यथा शक्यते कर्तुं मिलद्भिरिव निर्मलः ।

आत्माकाशमिवामूर्तः परद्रव्यैरनश्वरः ॥503॥

अन्वयार्थ : आकाशं इव निर्मल: अमूर्त: अनश्वर: आत्मा मिलद्भि: परद्रव्यै: इव अन्यथा कर्तुं न शक्यते ।

जिसप्रकार आकाशद्रव्य स्वभाव से निर्मल, अमूर्त तथा अविनश्वर है, वह उसमें अवगाहन प्राप्त करनेवाले जीवादि अनंतानंत परद्रव्यों के द्वारा अन्यथारूप नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार स्वभाव से निर्मल, अमूर्तिक अविनश्वर आत्मा उसके एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध में आनेवाले अनंतानंत परद्रव्यों के द्वारा अन्यथारूप नहीं किया जा सकता - वह सदैव ज्ञानस्वभावी ही रहता है ।

देह और आत्मा की सकारण भिन्नता -

देहात्मनोः सदा भेदो भिन्नज्ञानोपलम्भतः ।

इन्द्रियैर्ज्ञायते देहो नूनमात्मा स्वसंविदा ॥504॥

अन्वयार्थ : भिन्नज्ञानोपलम्भत: देह-आत्मनो: सदा भेद: (भवति) । देह: इन्द्रियै: (ज्ञायते) आत्मा (च) नूनं स्वसंविदा (ज्ञायते) ।

भिन्न-भिन्न ज्ञानों से उपलब्ध **अर्थ**ात् ज्ञात होने के कारण शरीर और आत्मा में सदा परस्पर भेद है । शरीर, इंद्रियों से अर्थात् इंद्रिय-निमित्तक मतिज्ञान से जाना जाता है और आत्मा निश्चय ही स्वसंवेदनज्ञान से जानने में आता है ।

कर्म एवं जीव एक-दूसरे के गुणों के घातक नहीं -

न कर्म हन्ति जीवस्य न जीवः कर्मणो गुणान् ।

वध्य-घातकभावोऽस्ति नान्योऽन्यं जीवकर्मणोः ॥505॥

अन्वयार्थ : कर्म जीवस्य गुणान् न हन्ति । जीव: (च) कर्मण: (गुणान्) न (हन्ति) । जीवकर्मणो: अन्योऽन्यं वध्य-घातकभाव: न अस्ति ।

ज्ञानावरणादि कर्म जीव के ज्ञानादि गुणों का घात/नाश नहीं करते और जीव कर्मरूप पुद्गल के स्पर्शादि गुणों का घात नहीं करता । ज्ञातास्वभावी जीव और स्पर्शादि गुणमय कर्म इन दोनों का परस्पर एक-दूसरे के साथ वध्य-घातक भाव नहीं है - **अर्थ**ात् दोनों स्वतंत्र हैं, एक-दूसरे के घातक नहीं हैं ।

निमित्त के अभाव में मोक्ष -

यदा प्रतिपरीणामं विद्यते न निमित्तता ।

परस्परस्य विश्लेषस्तयोर्मोक्षस्तदा मतः ॥506॥

अन्वयार्थ : यदा (जीवकर्मणो:) परस्परस्य परीणामं प्रति निमित्तता न विद्यते तदा तयो: (जीव-कर्मणोः परस्परस्य) विश्लेष: (जायते स:)

मोक्ष: मत: ।
जब जीव और कर्म के परस्पर में एक-दूसरे के प्रत्येक परिणाम/पर्याय के संबंध में निमित्तपना नहीं रहता **अर्थ**ात् निमित्तपना का अभाव हो जाता है, तब जीव और कर्म - दोनों का जो विश्लेष अर्थात् सर्वथा पृथक् हो जाना है, वह पृथक्पना ही मोक्ष है ।

जीव का पर्याय के साथ क्षणिक तादात्म्य संबंध -

येन येनैव भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः ।
तन्मयस्तत्र तत्रापि विश्वरूपो मणिर्यथा ॥507॥
अन्वयार्थ : यन्त्रवाहक: (जीव:) येन येन भावेन युज्यते तत्रापि तत्र तन्मय: एव (भवति) यथा विश्वरूप: मणि: ।
जिसप्रकार विश्वरूपधारी **अर्थ**ात् स्फटिकमणि उज्ज्वल है; इसलिए उसके नीचे जैसा डंक लगाते हैं वैसा ही स्फटिकमणि भासित होता है; उसीप्रकार देहरूपी यन्त्र को धारण करनेवाला जीव जिस-जिस भाव के साथ जुड़ता है, उस-उस भाव के साथ वहाँ वह तन्मय हो जाता है अर्थात् क्षणिक तादात्म्य-संबंधरूप हो जाता है ।

आत्मभावना के अभ्यास की प्रेरणा -

तेनात्मभावनाभ्यासे स नियोज्यो विपश्चिता ।
येनात्ममयतां याति निर्वृत्यापरभावतः ॥508॥
अन्वयार्थ : येन अपरभावत: निर्वृत्य आत्ममयतां याति तेन विपश्चिता स: (आत्मा) आत्मभावनाभ्यासे नियोज्य: ।
चूँकि परभाव से निवृत्त होकर **अर्थ**ात् परभावों को छोड़कर ही आत्मा आत्मरूपता को प्राप्त होता है; इसलिए विद्वानों को यही योग्य है कि वे अपनी आत्मा को आत्मभावना में लगावें ।

कर्ममल से रहित आत्मा निर्बंध -

युज्यते रजसा नात्मा भूयोऽपि विरजीकृतः ।
पृथक्कृतं कुतः स्वर्णं पुनः किट्टेन युज्यते ॥509॥
अन्वयार्थ : (यथा) किट्टेन पृथक्कृतं स्वर्णं पुन: (किट्टेन) कुत: युज्यते ? (तथा एव) रजसा विरजीकृत: आत्मा अपि भूय: (रजसा) न युज्यते ।
जिसप्रकार किट्ट कालिमारूप मल से भिन्न किया गया शुद्ध सुवर्ण फिर से किट्ट कालिमा से युक्त होकर अशुद्ध नहीं हो सकता; उसीप्रकार जो ज्ञानावरणादि आठों कर्मरूपी रज से रहित हुआ है, वह शुद्ध आत्मा भी फिर से कर्मों से युक्त नहीं होता **अर्थ**ात् बंधता नहीं है ।

उपादान कारण बिना कार्य नहीं होता -

दण्ड-चक्र-कुलालादि-सामग्रीसम्भवेऽपि नो ।
संपद्यते यथा कुम्भो विनोपादानकारणम् ॥510॥
मनो-वचो-वपुःकर्म-सामग्रीसम्भवेऽपि नो ।
संपद्यते तथा कर्म विनोपादानकारणम् ॥511॥
अन्वयार्थ : यथा दण्ड-चक्र-कुलालादि-सामग्रीसम्भवे अपि उपादानकारणं विना कुम्भ: नो सम्पद्यते । तथा मनःवचःवपुःकर्म-सामग्रीसम्भवे अपि उपादानकारणं विना कर्म न सम्पद्यते ।
जिसप्रकार दण्ड, चक्र और कुंभकार आदि निमित्तरूप अनेक प्रकार की कारण सामग्री का सद्भाव होनेपर भी मृत्पिण्डरूप उपादान कारण के बिना कुम्भ/घटरूप कार्य की उत्पत्ति नहीं होती । उसीप्रकार मन-वचन-काय की क्रियारूप निमित्तकारण स्वरूप सामग्री का सद्भाव / अस्तित्व होने पर भी मिथ्यात्व, अविरति आदि कलुषतारूप उपादान कारण के बिना कर्म की उत्पत्ति नहीं होती ।

कर्मबंध का उपादान कारण -

कालुष्यं कर्मणो ज्ञेयं सदोपादानकारणम् ।
मृद्द्रव्यमिव कुम्भस्य जायमानस्य योगिभिः ॥512॥
अन्वयार्थ : (यथा) जायमानस्य कुम्भस्य मृद्द्रव्यं इव कर्मण: उपादानकारणं कालुष्यं (अस्ति इति) योगिभि: सदा ज्ञेयम् ।
जिसप्रकार मिट्टी से उत्पन्न होनेवाले घट का उपादान कारण मिट्टीरूप पुद्गल द्रव्य है, उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्म का उपादान कारण मिथ्यात्व-अविरति आदिरूप कलुषता है; यह विषय योगियों को सदा जानना चाहिए ।

जीव कषायादिरूप नहीं होता -

यथा कुम्भमयो जातु कुम्भकारो न जायते ।
सहकारितया कुम्भं कुर्वाणोऽपि कथंचन ॥513॥
कषायादिमयो जीवो जायते न कदाचन ।
कुर्वाणोऽपि कषायादीन् सहकारितया तथा ॥514॥
अन्वयार्थ : यथा सहकारितया कुम्भं कुर्वाण: अपि कुम्भकार: कथंचन कुम्भमय: जातु न जायते; तथा सहकारितया कषायादीन् कुर्वाण: अपि जीव: कदाचन कषायादिमय: न जायते ।
जिसप्रकार सहकारिता के रूप में **अर्थ**ात् निमित्त की अपेक्षा से कुंभ को करता हुआ कुंभकार कभी कुंभरूप नहीं होता, कुंभकार ही रहता है । उसीप्रकार सहकारिता के रूप में अर्थात् निमित्त की अपेक्षा से क्रोधादि कषायें करता हुआ भी यह जीव कभी क्रोधादि कषायरूप नहीं होता, जीव ही रहता है ।

कर्ता जीव निराकर्ता बनता है -

यः कर्म मन्यते कर्माकर्म वाकर्म सर्वथा ।
स सर्वकर्मणां कर्ता निराकर्ता च जायते ॥515॥
अन्वयार्थ : य: (जीव:) कर्म सर्वथा कर्म मन्यते वा अकर्म (सर्वथा) अकर्म (मन्यते); स: (जीव:) सर्वकर्मणां कर्ता (भवन् अपि) निराकर्ता च जायते ।
जो कर्म को सर्वथा कर्म के रूप में और अकर्म को सर्वथा अकर्म के रूप में मानता है, वह सर्व कर्मों का कर्ता होते हुए भी (एक दिन) उन कर्मों का निराकर्ता **अर्थ**ात् अकर्ता (ज्ञाता) होता है ।

अनासक्त ज्ञानी विषयभोगों से निर्बंध -

विषयैर्विषयस्थोऽपि निरासंगो न लिप्यते ।
कर्दस्थो विशुद्धात्मा स्फटिकः कर्दैरिव ॥516॥
अन्वयार्थ : कर्दस्थ: विशुद्धात्मा स्फटिक: कर्दै: (न लिप्यते) इव निरासंगो: विषयस्थ: अपि (विशुद्धात्मा) विषयै: न लिप्यते ।
जिसप्रकार कीचड़ में पड़ा हुआ विशुद्ध स्फटिकमणी कीचड़ से लिप्त नहीं होता **अर्थ**ात् अपने निर्मल स्वभाव को नहीं छोड़ता-निर्मल ही रहता है । उसीप्रकार जो ज्ञानी जीव निःसंग अर्थात् अनासक्त रहता है, वह ज्ञानी स्पर्शनादि पाँचों इंद्रियों के स्पर्शादि विषयों को भोगता हुआ भी विषयजन्य पाप से नहीं बंधता - निर्बंध ही रहता है ।

भेदज्ञान का माहात्म्य -

देहचेतनयोर्भेदो दृश्यते येन तत्त्वतः ।
न संगे जायते तस्य विषयेषु कदाचन ॥517॥
अन्वयार्थ : येन (जीवेन) तत्त्वत: देहचेतनयो: भेद: दृश्यते, तस्य विषयेषु कदाचन संगे: न जायते ।
जिस जीव ने अनित्य एवं अचेतन देह और सुखस्वभावी एवं चेतन आत्मा में भेद तत्त्वतः **अर्थ**ात् वास्तविक रीति से देख/जान लिया है - अनुभव में लिया है, उस जीव का पंचेंद्रियों के स्पर्शादि विषयों में संग अर्थात् आसक्तभाव कभी भी नहीं होता - विरक्तभाव ही रहता है ।

जीव के भाव एवं उनका कार्य -

भावः शुभोऽशुभः शुद्धस्त्रेधा जीवस्य जायते ।
यतः पुण्यस्य पापस्य निर्वृतेरस्ति कारणम् ॥518॥

अन्वयार्थ : जीवस्य भाव: त्रेधा जायते शुभ: अशुभ: शुद्ध: (च इति) । यत: (शुभभाव:) पुण्यस्य (अशुभभाव:) पापस्य (शुद्धभाव: च) निर्वृते: कारणं अस्ति ।

अनेक जीवों की अपेक्षा से जीव के भाव तीन प्रकार के होते हैं - एक शुभ, दूसरा अशुभ और तीसरा शुद्ध । इनमें से शुभभाव पुण्य का कारण है, अशुभभाव पाप का और शुद्धभाव निर्वृति **अर्थ**ात् मोक्ष का कारण है ।

मोक्ष के उपाय का उपदेश -

ततः शुभाशुभौ हित्वा शुद्धं भावमधिष्ठितः ।
निर्वृतो जायते योगी कर्मागमनिवर्तकः ॥519॥

अन्वयार्थ : तत: कर्मागमनिवर्तक: योगी शुभाशुभौ (भावौ) हित्वा शुद्धं भावं अधिष्ठित: निर्वृत: जायते ।

इस कारण जो योगी कर्मों के आस्रव का निरोधक है, वह शुभ-अशुभ भावों को छोड़कर शुद्धभाव / वीतराग भाव में अधिष्ठित **अर्थ**ात् विराजमान होता हुआ मुक्ति को प्राप्त होता है ।

उत्कृष्ट योगी का स्वरूप -

विनिवृत्यार्थतश्चित्तं विधायात्मनि निश्चलम् ।
न किञ्चिच्चिन्तयेद्योगी निरस्ताखिलकल्मषः ॥520॥

अन्वयार्थ : निरस्ताखिलकल्मष: योगी चित्तं अर्थत: विनिवृत्य आत्मनि निश्चलं विधाय न किञ्चित् चिन्तयेत् ।

जिस योगी ने मिथ्यात्व, क्रोधादि कषायरूप कल्मष का पूर्ण नाश किया है, वह चित्त को सब ज्ञेयरूप पदार्थों से हटाकर मात्र निज भगवान आत्मा में निश्चल/स्थिर करता है, आत्मा को छोड़कर किसी का किंचित भी चिंतन/ध्यान नहीं करता । - (वही उत्कृष्ट योगी है ।)

इंद्रिय-विषयासक्त जीव का स्वरूप -

स्वार्थ-व्यावर्तिताक्षोऽपि विषयेषु दृढ-स्मृति: ।
सदास्ति दुःस्थितो दीनो लोक-द्वय-विलोपकः ॥521॥

अन्वयार्थ : (यः) स्वार्थ-व्यावर्तिताक्षः अपि विषयेषु दृढ-स्मृति: (स:) सदा दु:स्थित:, दीन: (च) लोक-द्वय-विलोपक: अस्ति ।

जो जीव अपने स्पर्शनेंद्रियादि को उनके स्पर्शादि विषयों से (क्षेत्र की अपेक्षा से) अलग रखता है **अर्थ**ात् प्रत्यक्ष में इंद्रियों से विषयों को भोगता नहीं है; तथापि इंद्रियों के विषयों का बराबर सतत स्मरण करता रहता है, वह अज्ञानी सदा दुःखी एवं दीन रहता है और अपने इस जन्म को तथा अगले भवों को भी बिगाड़ता है ।

भोग के संदर्भ में अज्ञानी-ज्ञानी का स्वरूप -

भोगं कश्चिदभुञ्जानो भोगार्थं कुरुते क्रियाम् ।
भोगमन्यस्तु भुञ्जानो भोगच्छेदाय शुद्धधीः ॥522॥

अन्वयार्थ : कश्चित् भोगं अभुञ्जान: (अपि) भोगार्थं क्रियां कुरुते, अन्य: शुद्धधी: तु भोगं भुञ्जान: (अपि) भोगच्छेदाय (क्रियां कुरुते) ।

कोई अज्ञानी पूर्वबद्ध पापोदय के कारण भोग्यवस्तु प्राप्त न होने से भोग को प्रत्यक्ष में न भोगता हुआ भी पंचेंद्रियों के भोग भोगने के लिये क्रिया **अर्थ**ात् प्रयास करता है । दूसरा कोई शुद्धबुद्धिधारक तत्त्वज्ञानी अपने पूर्वबद्ध पुण्योदय से प्राप्त पंचेन्द्रिय-भोगों को अनासक्त बुद्धि से भोगता हुआ भी संसार के छेद का प्रयत्न करता है ।

विरक्त त्यागी का स्वरूप -

स्वार्थ-व्यावर्तिताक्षोऽपि निरुद्धविषय-स्मृतिः ।
सर्वदा सुस्थितो जीवः परत्रेह च जायते ॥523॥

अन्वयार्थ : (य: जीव:) स्वार्थ-व्यावर्तिताक्ष: निरुद्धविषय-स्मृति: अपि (स:) जीव: इह च परत्र सर्वदा सुस्थित: जायते ।

जो ज्ञानी जीव अपने स्पर्शनेंद्रियादि को उनके स्पर्शादि विषयों से (क्षेत्र की अपेक्षा से) अलग/भिन्न रखता है **अर्थ**ात् प्रत्यक्ष में इंद्रियों से विषयों को भोगता नहीं है और स्पर्शादि विषयों का स्मरण भी नहीं करता अर्थात् पहले भोगे गये भोगों का कभी स्मरण नहीं करता एवं न उन्हें फिर से भोगने की इच्छा ही करता है - वह ज्ञानी जीव इस भव में तथा परभव में भी सदा सुखी रहता है ।

भोग के सन्दर्भ में रागी एवं विरागी का स्वरूप -

रागी भोगमभुञ्जानो बध्यते कर्मभिः स्फुट् ।
विरागः कर्मभिर्भोगं भुञ्जानोऽपि न बध्यते ॥524॥

अन्वयार्थ : रागी भोगं अभुञ्जान: (अपि) कर्मभि: बध्यते; (च) विराग: भोगं भुञ्जान: अपि कर्मभि: न बध्यते (एतत् तु) स्फुटं (अस्ति) ।

जो मिथ्यात्व-अनंतानुबंधी सहित रागी जीव है वह अज्ञानी भोग को न भोगता हुआ भी सदा ज्ञानावरणादि आठों कर्मों से बंधता है और जो मिथ्यात्व-अनंतानुबंधी कषाय रहित किंचित् / अल्प वीतरागी है, वह ज्ञानी श्रावक भोग को भोगता हुआ भी ज्ञानावरणादि आठों कर्मों से नहीं बंधता, यह सुनिश्चित है ।

स्पर्शादि विषयों को जानने से कर्मबंध नहीं -

विषयं पञ्चधा ज्ञानी बुध्यमानो न बध्यते ।
त्रिलोकं केवली किं न जानानो बध्यतेऽन्यथा ॥525॥

अन्वयार्थ : ज्ञानी पञ्चधा विषयं बुध्यमान: (अपि) न बध्यते, अन्यथा त्रिलोकं जानान: केवली किं न बध्यते?

ज्ञानी पाँच प्रकार के इन्द्रिय विषयों (स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्द) को जानते हुए भी कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होते । (यदि विषयों को जानने से ज्ञानी बन्ध को प्राप्त हो तो) तीन लोक को जाननेवाले केवली भगवान क्या बन्ध को प्राप्त नहीं होंगे? (अवश्य बन्धेंगे, किन्तु वे तो नहीं बन्धते हैं, अतः ज्ञानी भी विषयों को जानते हुए बन्धते नहीं हैं - इसमें क्या आश्चर्य है ?) ।

मिथ्यात्व ही कर्मबंध में प्रमुख कारण है, विषय-ग्रहण नहीं -

विमूढो नूनमक्षार्थगृह्णानोऽपि बध्यते ।
एकाक्षाद्या निबध्यन्ते विषयाग्रहिणो न किम् ॥526॥

अन्वयार्थ : विमूढ: (जीव:) नूनं अक्षार्थं अगृह्णान: अपि बध्यते; (यथा) एकाक्षाद्या: विषय-अग्रहिण: किं न निबध्यन्ते? (निबध्यन्ते एव) ।

विमूढ़ **अर्थ**ात् मिथ्यादृष्टि महाअज्ञानी जीव निश्चय से इंद्रिय-विषयों को ग्रहण न करते हुए भी ज्ञानावरणादि कर्मबंध को प्राप्त होते हैं । क्या एकेंद्रियादि जीव रसादि चार विषयों को ग्रहण न करते हुए भी ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के बंध को प्राप्त नहीं होते हैं? (अर्थात् अवश्य प्राप्त होते हैं ।)

वीतरागभाव ही धर्म है -

राग-द्वेष-निवृत्तस्य प्रत्याख्यानादिकं वृथा ।
राग-द्वेष-प्रवृत्तस्य प्रत्याख्यानादिकं वृथा ॥527॥

अन्वयार्थ : राग-द्वेष-निवृत्तस्य (साधकस्य) प्रत्याख्यानादिकं वृथा (भवति) । च रागद्वेष-प्रवृत्तस्य (असाधकस्य) प्रत्याख्यानादिकं वृथा (भवति) ।

जो साधक मुनिराज राग-द्वेष से रहित हैं, उनके प्रत्याख्यानादिक षट्कर्म व्यर्थ **अर्थ**ात् कुछ काम के नहीं हैं और जो मुनिराज राग-द्वेषादि विभाव भावों में प्रवृत्त हैं, उनके भी प्रत्याख्यानादिक षट्कर्म व्यर्थ अर्थात् कुछ काम के नहीं है ।

प्रत्याख्यानादि से रहित मुनिराज का स्वरूप -

सर्वत्र यः सदोदास्ते न च द्वेष्टि न रज्यते ।
प्रत्याख्यानादतिक्रान्तः स दोषाणामशेषतः ॥528॥

अन्वयार्थ : य: (योगी कुत्रापि) न रज्यते न च द्वेष्टि सर्वत्र सदा उदास्ते, स: (योगी) दोषाणां अशेषत: प्रत्याख्यानात् अतिक्रान्त: (अस्ति) ।

जो योगी किसी भी वस्तु में राग नहीं करते, द्वेष भी नहीं करते और सर्वत्र उदासीनभाव से रहते हैं; वे मुनिराज दोषों के प्रत्याख्यान के कारण कर्म से पूर्णतः मुक्त हैं ।

रागी सर्वदा दोषी -

रागिणः सर्वदा दोषाः सन्ति संसारहेतवः ।
ज्ञानिनो वीतरागस्य न कदाचन ते पुनः ॥529॥

अन्वयार्थ : रागिण: संसारहेतव: दोषा: सर्वदा सन्ति, पुन: ज्ञानिन: वीतरागस्य ते (दोषा:) कदाचन न (सन्ति) ।

रागी **अर्थ**ात् मिथ्यादृष्टि जीव के संसार के कारणभूत सर्व दोष सदाकाल होते हैं; परन्तु ज्ञानी वीतरागी जीव के संसार के कारणभूत सर्व दोष कदाचित् भी नहीं होते ।

कर्मबंध एवं मुक्ति का कारणरूप भाव -

जीवस्यौदयिको भावः समस्तो बन्धकारणम् ।
विमुक्तिकारणं भावो जायते पारिणामिकः ॥530॥

अन्वयार्थ : जीवस्य औदयिक: भाव: समस्त: बन्धकारणं (भवति, जीवस्य च) पारिणामिक: भाव: विमुक्तिकारणं जायते ।

मोहनीय कर्मों के उदय के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले जीव के जो औदयिक भाव हैं वे सब नवीन कर्मबंध के कारण होते हैं और जीव का जो पारिणामिक भाव है, वह मुक्ति का कारण होता है ।

आत्मा के अनुभव की प्रेरणा -

विषयानुभवं बाह्यं स्वात्मानुभवमान्तरम् ।
विज्ञाय प्रथमं हित्वा स्थेयमन्यत्र सर्वतः ॥531॥

अन्वयार्थ : विषयानुभवं बाह्यं (भवति)। स्व-आत्मानुभवं आन्तरं (भवति । एतत्) विज्ञाय प्रथमं (बाह्यं विषयानुभवं) हित्वा अन्यत्र (स्व-आत्मानुभवं आन्तरं) सर्वत: स्थेयम् ।

स्पर्श-रसादि पंचेंद्रिय विषयों का जो अनुभव है, वह बाह्य **अर्थ**ात् दुःखरूप तथा विनाशीक है और निज शुद्ध आत्मा का जो अनुभव है, वह अंतरंग अर्थात् वास्तविक, सुखरूप तथा अविनाशी/शाश्वत है । इस बात को अच्छी तरह से जानकर दुःखद बाह्य-विषयानुभव को छोड़कर निज शुद्धात्मानुभवरूप अंतरंग में पूर्णतः स्थिर/मग्न होना चाहिए ।

ज्ञान के दो भेद -

ज्ञानं वैषयिकं पुंसः सर्वं पौद्गलिकं मतम् ।
विषयेभ्यः परावृत्तमात्मीयमपरं पुनः ॥532॥

अन्वयार्थ : पुंस: वैषयिकं ज्ञानं सर्वं पौद्गलिकं मतम् । पुन: विषयेभ्य: परावृत्तं अपरं (सर्वं ज्ञानं) आत्मीयं मतम् ।

स्पर्शनेंद्रियादि पाँचों इंद्रियों के निमित्त से उत्पन्न होनेवाला स्पर्शादि विषयों का जितना भी जो ज्ञान है, उसे पौद्गलिक कहते हैं और स्पर्शादि विषयों से परावृत्त **अर्थ**ात् इंद्रियों के निमित्तों के बिना होनेवाले दूसरे ज्ञान को आत्मीय ज्ञान कहते हैं ।

वस्तुत: ज्ञान के भेद नहीं -

गवां यथा विभेदेऽपि क्षीरभेदो न विद्यते ।

पुंसां तथा विभेदेऽपि ज्ञानभेदो न विद्यते ॥533॥

अन्वयार्थ : यथा गवां विभेदे अपि क्षीरभेद: न विद्यते, तथा पुंसां विभेदे अपि ज्ञानभेद: न विद्यते ।

जिसप्रकार विभिन्न गायों में काली, पीली, धौली, चितकबरी रूप भेद होने पर भी उनके दूध में **अर्थ**ात् दूध के सामान्य श्वेत वर्णादि में कोई भेद नहीं होता; उसीप्रकार आत्मा के एकेंद्रियादिक-तिर्यंचादिक भेद होनेपर भी उनके ज्ञान के जाननरूप स्वभाव में भेद नहीं होता ।

ज्ञानी का ज्ञेय से भेदज्ञान -

विज्ञाय दीपतो द्योत्यं यथा दीपो व्यपोह्यते ।

विज्ञाय ज्ञानतो ज्ञेयं तथा ज्ञानं व्यपोह्यते ॥534॥

अन्वयार्थ : यथा दीपत: द्योत्यं (पदार्थं) विज्ञाय दीप: व्यपोह्यते; तथा ज्ञानत: ज्ञेयं विज्ञाय ज्ञानं व्यपोह्यते ।

जिसप्रकार समझदार मनुष्य दीपक से द्योत्य/देखने योग्य, प्रकाश्य **अर्थ**ात् प्रकाशित करने योग्य वस्तु को देखकर/जानकर दीपक को प्रकाश्यरूप वस्तु से भिन्न करते हैं; उसीप्रकार ज्ञान से ज्ञेय अर्थात् जाननेयोग्य वस्तु को जानकर ज्ञानी अपने ज्ञान को ज्ञेय से भिन्न करते/जानते हैं । (अर्थात् मैं तो जाननस्वरूप मात्र ज्ञाता हूँ; ऐसा मानते हैं ।)

स्वभाव और विभाव ज्ञान का स्वरूप -

स्वरूपमात्मनः सूक्ष्ममव्यपदेशमव्ययम् ।

तत्र ज्ञानं परं सर्वं वैकारिकमपोह्यते ॥535॥

अन्वयार्थ : आत्मन: स्वरूपं (ज्ञानं) सूक्ष्मं अव्यपदेशं च अव्ययं (अस्ति) । तत्र (आत्मन: स्वरूपत:) परं सर्वं वैकारिकं ज्ञानं अपोह्यते ।

जो ज्ञान आत्मा का स्वरूप **अर्थ**ात् स्वभाव है, वह अत्यंत सूक्ष्म है, व्यपदेश अर्थात् किसी विशेष नाम से जानने योग्य नहीं है अथवा वचनातीत और अविनाशी है; ऐसे ज्ञान को कोई भी आत्मा से भिन्न नहीं कर सकता । इस स्वाभाविक तथा अनादि-अनंत ज्ञान से भिन्न दूसरा वैकारिक / विभावरूप अर्थात् स्पर्शनेंद्रियादि के निमित्त से होनेवाला पौद्गलिक ज्ञान है, उसे दूर किया जा सकता है ।

संसारच्छेद का स्वरूप -

स्कन्धच्छेदे पल्लवाः सन्ति भूयो ।

मूलच्छेदे शाखिनस्ते तथा नो । ।

देशच्छेदे सन्ति भूयो विकारा ।

मूलच्छेदे जन्मनस्ते तथा नो ॥536॥

अन्वयार्थ : (यथा) शाखिन: स्कन्धच्छेदे पल्लवा: भूय: सन्ति; (किन्तु शाखिन:) मूलच्छेदे ते तथा नो (तथैव) जन्मन: देशच्छेदे विकारा: भूय: सन्ति; (किन्तु जन्मन:) मूलच्छेदे ते (विकारा:) तथा नो।

जिसप्रकार वृक्ष के स्कन्ध भाग का छेद होने पर पत्ते फिर निकल आते हैं; किन्तु वृक्ष के मूल **अर्थ**ात् जड़ का छेद होनेपर वृक्ष में फिर से पत्ते नहीं आते; उसीप्रकार संसार का एकदेश नाश (अज्ञानी की मान्यतानुसार पाप का नाश) करने पर विकार फिर उत्पन्न हो जाते हैं; किन्तु संसार के मूलरूप मिथ्यात्व के सम्पूर्ण विनाश करने पर फिर से विकार उत्पन्न नहीं होते अर्थात् संसार का ही नाश हो जाता है ।

दोनों संसारच्छेद में तुलना -

देशच्छेदे चरित्रं भवति भवततेः कुर्वतश्चित्ररूपं ।

मूलच्छेदे विविक्तं वियदिव विमलं ध्यायति स्वस्वरूपम् । ।

विज्ञायेत्थं विचिन्त्यं सदमितगतिभिस्तत्त्वमन्तःस्थमग्र्यं ।

संप्राप्तासन्नमार्गा न परमिह पदप्राप्तये यान्ति मार्ग् ॥537॥

अन्वयार्थ : (संसारस्य) देशच्छेदे (सति) भवतते: चित्ररूपं कुर्वत: चरित्रं भवति (संसारस्य च) मूलच्छेदे (आत्मा) वियत् इव विमलं, विविक्तं स्व-स्वरूपं ध्यायति । इत्थं विज्ञाय सदमितगतिभि: अन्त:स्थं अग्र्यं तत्त्वं विचिन्त्यं (अस्ति) । संप्राप्तासन्नमार्गा: पदप्राप्तये परं मार्गं

इह न यान्ति (इव) ।
संसार के एकदेश छेद/नाश होने पर **अर्थ**ात् अति पापरूप अवस्था का अभाव होने से संसार की परम्परानुसार चित्र-विचित्ररूप अर्थात् अनेक अवस्थाओं को धारण करनेरूप चारित्र होता है । मिथ्यात्व के अभावपूर्वक संसार के मूल का नाश होने पर आत्मा आकाश के समान कर्मरूपी कलंक से रहित निर्मल अपने निज स्वरूप को ध्याता है । इसप्रकार वस्तुस्वरूप को यथार्थ जानकर जो उत्तम ज्ञान के धारक महापुरुष हैं, वे अंतरंग में स्थित प्रधान तत्त्वरूप शुद्ध आत्मा का ही ध्यान करते हैं । यह योग्य ही है कि जिन्हें अपेक्षित / इष्ट स्थान की प्राप्ति का उपाय अपने निकट / अपने में ही प्राप्त होता है, तो वे फिर दूर के अन्यथा मार्ग से गमन नहीं करते ।

जन्म तथा जीवन की सफलता -

दृष्ट्वा बाह्यमनात्मनीनमखिलं मायोपमं नश्वरं ।
ये संसार-महोदधिं बहुविधक्रोधादिनक्राकुलम् । ।
तीर्त्वा यान्ति शिवास्पदं शममयं ध्यात्वात्मतत्त्वं स्थिरं ।
तेषां जन्म च जीवितं च सफलं स्वार्थैकनिष्ठात्मनाम् ॥538॥
अन्वयार्थ : ये अनात्मनीनं मायोपमं (तथा) नश्वरं अखिलं बाह्यं (संसारम्) दृष्ट्वा स्थिरं आत्मतत्त्वं ध्यात्वा बहुविध-क्रोधादिनक्राकुलं संसार-महोदधिं तीर्त्वा शममयं शिवास्पदं यान्ति तेषां च स्वार्थैकनिष्ठात्मनां जन्म जीवितं च सफलम् (अस्ति) ।
जो महामानव सारे बाह्य जगत को अनात्मीय, मायारूप एवं नश्वर देखकर-जानकर स्थिर (ध्रुव) निजशुद्धात्म तत्त्व का ध्यानकर अनेक प्रकार के क्रोधादि कषायरूप मगरों से भरे हुए संसार-समुद्र को तिरकर अनंत-अव्याबाध सुखमय मोक्षपद को प्राप्त करते हैं, उन आत्मीय स्वार्थ की साधना में एकनिष्ठा रखनेवालों का ही जन्म और जीवन सफल है ।

ग्रंथ तथा ग्रंथकार की प्रशस्ति -

दृष्ट्वा सर्वं गगननगर-स्वप्न-मायोपमानं ।
निःसंगत्मामितगतिरिदं प्राभृतं योगसारम् । ।
ब्रह्मप्राप्त्यै परममकृतं स्वेषु चात्म-प्रतिष्ठं ।
नित्यानन्दं गलित-कलिलं सूक्ष्ममत्यक्ष-लक्ष्यम् ॥539॥
अन्वयार्थ : सर्वं गगननगर-स्वप्न-मायोपमानं दृष्ट्वा नि:संगत्मा अमितगति: स्वेषु च आत्म-प्रतिष्ठं, गलित-कलिलं, सूक्ष्मं अत्यक्ष-लक्ष्यं नित्यानन्दं (च) परमं अकृतं ब्रह्मप्राप्त्यै इदं योगसारं प्राभृतं (विरचितम्) ।
आकाश में बादलों से बने हुए नगर के समान, स्वप्न में देखे हुए दृश्यों के सदृश तथा इन्द्रजाल में प्रदर्शित मायामय चित्रों के तुल्य सारे दृश्य जगत् को देखकर निःसंगात्मा अमितगति ने उस परम ब्रह्म को प्राप्त करने के लिये जो कि आत्माओं में आत्म-प्रतिष्ठा को लिये हुए हैं, कर्म-मल से रहित है, सूक्ष्म है, अमूर्तिक है, अतीन्द्रिय है और सदा आनन्दरूप है, यह योगसार प्राभृत रचा है, जो कि योग-विषयक ग्रन्थों में अपने को प्रतिष्ठित करनेवाला योग का प्रमुख ग्रन्थ है, निर्दोष है, **अर्थ** की दृष्टि से सूक्ष्म है - गम्भीर है - अनुभव का विषय है और नित्यानन्दरूप है - इसको पढ़ने-सुनने से सदा आनन्द मिलता है ।

इस ग्रन्थ के अध्ययन का फल -

योगसारमिदमेकमानसः प्राभृतं पठति योऽभिमानसः ।
स्वस्वरूपमुपलभ्य सोऽञ्चितं सद्म याति भवदोषवञ्चितम् ॥540॥
अन्वयार्थ : इदं योगसारं प्राभृतं य: एकमानस: अभिमानस: पठति स: स्व-स्वरूपं उपलभ्य अञ्चितं सद्म याति (यत्) भव-दोष-वञ्चितं (अस्तिं) ।
इस योगसार प्राभृत को जो एकचित्त होकर एकाग्रता से पढ़ता है, वह अपने स्वरूप को जानकर तथा सम्प्राप्त कर उस पूजित सदन को/ लोकाग्र के निवासरूप पूज्य मुक्ति महल को प्राप्त होता है, जो संसार के दोषों से रहित है / संसार का कोई भी विकार जिसके पास नहीं

आता ।